हिंदी-साहित्य का गद्य-काल

श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी

एम्० ए०, एल्-एल्० बी०



प्रकाशक

राय साहब रामदयाल अगरवाला

इलाहाबाद

प्रथम बार ५००] १६३५ [मूल्य १)

PRINTED BY K. B. AGARWALA AT THE SHANTI PRESS.
NO. 12, BANK ROAD, ALLAHABAD.

दो शब्द

यह छोटी सी पुस्तक विशेष कर इन्टरमीडियट और बी० ए० के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ही ध्यान में रख कर लिखी गई है। यों एम० ए० के विद्यार्थी भी इससे लाभ उठा सकते हैं।

इस पुस्तक के प्रणयन में मुझे पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा पं० रमाकान्त त्रिपाठी के ग्रंथों से पर्याप्त सहायता मिली है। मैं आप सज्जनों का हृदय से आभारी हूँ। अभी हाल में 'गद्य शैलियाँ' नामक ग्रंथ नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ है पर अभाग्यवश इस पुस्तक के लिखे जाने के बाद वह लेख रूप में 'पत्रिका' में छपा अतः उससे लाभ न उठा सकने का मुझे खेद है।

इस पुस्तक के लेखन और प्रकाशन का अवांतर काल प्रायः चार वर्ष का है। हिन्दी साहित्य की उन्नति के वेग को देखते हुए यह संभव हो सकता है कि कुछ अत्याधुनिक लेखकों के साथ यथोचित न्याय न किया जा सका हो। पर ऐसी अवस्था में यह स्मरण रखने की बात है कि बोर्ड और विश्व-विद्यालयों के छात्रों के सम्बन्ध की उपादेयता का प्रश्न मेरे लिये अधिक महत्त्वपूर्ण था।

तो भी, है तो यह एक प्रकार से साहित्य का इतिहास ही और इस विषय पर पुस्तक लिखने के काम में विशेष उत्तरदायित्व अपेक्षित रहता है। त्रुटियाँ और भूलें रह जानी स्वाभाविक हैं और उनसे अभिज्ञ होने पर लेखक बड़ी प्रसन्नता से भविष्य में कृतज्ञता पूर्वक यथोचित परिवर्तन कर देना अपना कर्त्तव्य समझेगा।

प्रयाग,
२४ जनवरी, १९३५ ई०

गणेशप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ
अवतरणिका	....	....	१—४८
प्राचीन काल	...	...	२—२१

शाही परवाने, गोरखनाथ, विट्ठलनाथ, गोकुलनाथ, नंददास, तुलसीदास, नाभादास, देव, सुरति मिश्र, जानकी प्रसाद, किशोरदास, गंगा भाट, जटमल, खड़ी बोली के संबंध में भ्रमपूर्ण धारणाएँ।

मध्यकाल	...	...	२१—३२

सदासुखलाल, इन्शा अल्लाखाँ, लल्लूलाल, सदल मिश्र, इसाई-धर्म-प्रचारक, बाइबिल के अनुवाद, शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी, चार्ल्स वुड् की योजना।

आधुनिक काल	...	...	३२—४८

राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मण सिंह, हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, भीमसेन शर्मा, गोविन्दनारायण मिश्र, प्रेमघन, संस्कृत पूर्ण गद्य।

गद्यसाहित्य का विकास	....	४९—७५
१८०३—५७ के बीच का गद्यसाहित्य		७६—८७
बलवे के बाद का हिंदी गद्य	....	८८—११२

राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मण सिंह, नवीन चंद्रराय, आर्य समाज, श्रद्धाराम फुल्लौरी, स्वामी दयानन्द।

विषय	पृष्ठ
हरिश्चन्द्र काल	११३—१४०
हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट ।	
पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी	१४१—१८५
महाबीर प्रसाद द्विवेदी, बदरी नारायण चौधरी "प्रेमघन" गोविन्द नारायण मिश्र, भीमसेन शर्मा, बालमुकुन्द गुप्त, अंबिकादत्त व्यास, अयोध्यासिंह उपाध्याय ।	
हिंदी गद्य के विकास की वर्तमान अवस्था	१८६—१९०
नाटक	१९१—२१५
उपन्यास	२१६—२२५
कहानी	२२५—२३७
निबंध	२३७—२४१
समालोचना	२४१—२५६

हिंदी-साहित्य का गद्यकाल

अवतरणिका

हिंदी भाषा की उत्पत्ति यद्यपि नवम शताब्दी ही में हो गई थी, परन्तु गद्य में साहित्य का पता कई शताब्दियों के पश्चात् से चलता है। अभी तक हिंदी के सर्वप्रथम गद्य-लेखक गुरु गोरखनाथ जी ही माने जा रहे हैं। इनका रचना-काल १५ वीं शताब्दी का आदि भाग माना जाता है। इनके पहले हिंदी-गद्य-लेखक या तो हुए ही नहीं और यदि हुए भी तो उनके ग्रन्थों का पता अब तक नहीं लग सका है। इनके पहले के हिंदी गद्य के स्वरूप में हमें महाराज पृथ्वीराज आदि के कुछ पत्र या परवाने आदि मिलते हैं। यह समय १२ वीं शताब्दी* का है और यदि इन्हीं परवानों और आज्ञापत्रों ही से गद्य-साहित्य की उत्पत्ति मानते हैं तो यह भी मान लेना पड़ेगा कि गद्य का आदि काल या प्रथम उत्थानकाल या प्राचीन गद्य-काल १२ वीं शताब्दी से शुरू होता है और आधुनिक हिंदी के जन्मदाता लल्लूलाल, इन्शाअल्ला तथा सदल मिश्र के समय (१८०३) में

---

* किसी विशेष चिन्ह की अनुपस्थिति में इन पृष्ठों में उद्धृत की हुई तिथियों को खीस्टाब्द ही की समझना चाहिये।

समाप्त हो जाता है। इस हिसाब से १८०३ से गद्य का द्वितीय उत्थान अथवा मध्यकाल शुरू होता है और हरिश्चन्द्र के समय तक समाप्त होता है। १८८४ से वर्तमान या आधुनिक काल माना जा सकता है। इस प्रकार सुविधा के लिये स्थूल रूप से हिंदी-साहित्य का गद्य-काल तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

प्राचीनकाल—१२००—१८०३।

मध्यकाल—१८०३—१८८४।

वर्त्तमानकाल—१८८४—आज तक।

प्राचीन काल

यह प्राचीन अथवा आदि काल यों तो बहुत विस्तृत है, पर प्रायः ६०० वर्षों का दीर्घ समय यथार्थ में हिंदी के पद्य-साहित्य का समय है। इसमें जो कुछ गद्य मिलता भी है, वह भी ऐसा नहीं कि उसे साहित्य कहा जाय। हाँ, उससे उस समय के बोल-चाल की भाषा का पता अवश्य लगता है; क्योंकि उन दिनों साहित्य में तो गद्य का प्रयोग होता नहीं था, केवल चिट्ठी-पत्री, शाही परवाने या आज्ञापत्र या अधिक से अधिक इतिहास (Bardic Chronicle) लिखने के लिये लोग गद्य काम में लाते थे। गद्य में भी काव्य-रचना हो सकती है, ऐसा उस समय कोई स्वप्न में भी नहीं सोचता था। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय के विद्वान् 'कवीश्वर' संस्कृत के बड़े बड़े गद्य-काव्यों से अपरिचित रहे हों, पर संसार की सभी भाषाओं

के संबंध में यह एक प्रकार का नियम सा है कि आदि में पहले सर्वत्र पद्य ही में काव्य-रचना होती है और गद्य में काव्य-रचना का समय तब आता है, जब पद्य-रचना-कला अपने उच्चतम शिखर को पहुँच चुकती है और उसकी अधोगति का आरंभ हो जाता है। यही हाल हिंदी-साहित्य में भी हुआ। १८ वीं शताब्दी तक हिंदी कविता उन्नति के शिखर तक पहुँच चुकी थी। सूर, तुलसी, देव, बिहारी, पद्माकर आदि महाकवियों की अमृतवाणी बंद हो चुकी थी। इनके बाद हिंदी-साहित्य में एक परिवर्तन काल आता है; जैसा कि दो एक बार प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य में होता है। भाषा और साहित्य दोनों में बहुत-कुछ रद्द-बदल होती है और लोगों का ध्यान गद्य की ओर झुकता है और तत्कालीन गद्य का पुराना ढंग भी बदलता है। यह समय हिंदी-साहित्य में १८०३ के लगभग से आरंभ हुआ था।

इसके पहिले हिंदी-साहित्य में गद्य के रूप में जो कुछ था, वह साहित्यिक दृष्टि से नहीं के बराबर था, पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्राचीन गद्य से, यदि वह देखने को मिल सके तो उस समय के लोगों की बोल-चाल की भाषा का कुछ न कुछ परिचय अवश्य मिल जाता है और भाषा-तत्व के विद्यार्थी के लिये यह परिचय हिंदी भाषा के विकास के अध्ययन करने में बहुत कुछ सहायता भी दे सकता है, इस-लिये पृथ्वीराज के परवानों से लेकर लल्लू लाल जी तक के समय के बीच में अपने समय के मुख्य मुख्य (representative)

गद्य के जितने नमूने जहाँ कहीं से भी हमको मिल सके हैं, उनमें से कुछ थोड़े से यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

सबसे प्राचीन गद्य के नमूने महाराज पृथ्वीराज आदि के आज्ञा-पत्र या परवाने हैं। ऐसे परवानों की ९ नक़लें नागरी-प्रचारिणी सभा की प्रथम खोज रिपोर्ट में प्रकाशित हुई हैं। ये सब पं० मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या के उद्योग और कृपा से हम लोगों को दृष्टिगोचर हो सके हैं। सबसे पहला आज्ञा-पत्र अनंद सं० ११३९ अर्थात् वि० सं० १३२९ का है। इनमें से ११४६ अ० सं० के एक पत्र की नक़ल देखिए।

शाही परवाने

"श्री हरी एकलिंगो जयति।

श्री श्री चित्रकोट बाई साहब श्री प्रथुकुँवरि बाई का बारण-गाम मोई आचारज भाई रूसीकेस जी वांच जो अपन श्री दलीसूं भाई लंगरी रांजी आआ हे जो श्री दलीसूं वी हजूर को वी खास रुका आयो है जो सारो वी पदारवा की सीखवो है नेदली काकाजी षेद है जो का (गद बाँच) त चला आव जो थाने मा आगे जाइगे पडेगा थाके वास्ते डाक बेठी है श्री हजूर......वी हुक्म वेगीचो है जो थे ताकीद सूं आव जो थारे मंदर को व्याव कामा-रथ अवार-करोगा दलीसु आआ पाछे करोगा ओर ये सवेरे दन अठे आद्य सो संवत् ११ (४५) चैत सुदी १३।"

अर्थ

"श्रीहरि एकलिंग की जय हो। मोई ग्राम-निवासी आचार्य भाई ऋषीकेशजी चित्तौर से बाई साहब श्री पृथुकुँवरि बाई का

संवाद बाँचना। आगे भाई श्री लङ्गरी राय जी श्री दिल्ली से आये हैं और श्री दिल्ली से हजूर का खास रुक्का भी आया है, जिससे मुझको भी दिल्ली जाने की आज्ञा मिली है। काकाजी अस्वस्थ हैं। सो कागद बाँचते चले आवो। तुमको हमसे पहिले जाना पड़ेगा। तुम्हारे वास्ते डाक बैठाई गई है। श्री हजूर (समर सिंह) ने भी आज्ञा दी है। सो ताकीद जानकर जल्दी आवो। जो तुम्हारे मंदिर की स्थापना जल्दी स्थिर हुई है, सो हम लोगों के दिल्ली से लौटने पर होगी। इतनी जल्दी आवो कि दिन का सवेरा वहाँ हो तो शाम यहाँ हो। मिती चैत सुदी १३ सं० ११४५। सही"।

इन पत्रों को ध्यान से देखने से उन दिनों की बोलचाल की भाषा का कुछ कुछ परिचय प्राप्त हो सकता है; परन्तु यह राजपूताने के बोलचाल की भाषा के नमूने हैं। इधर काशी-प्रयाग के आसपास की बोलचाल की भाषा उन दिनों कैसी थी, इसका अंदाजा लगाने का कोई उपाय नहीं है। उन दिनों साहित्य का केंद्रस्थल राजस्थान था। अजमेर और दिल्ली के बड़े बड़े कवियों के आश्रय-स्थल और जिस भाषा में यह लोग लिखते थे, वह कोई देश की सर्वमान्य (standard) भाषा तो थी नहीं। जो कवि जिस प्रांत का होता था, उसी प्रांत की भाषा का साहित्य में प्रयोग करता था। उस समय राजस्थान के चारण और भट्ट जिस भाषा का पद्य में व्यवहार करते थे, उसे वे डिंगल कहते थे; परंतु ऊपर दिए हुए नमूने की भाषा से डिंगल कविता की भाषा को मिलाकर देखने से दोनों में बहुत अंतर प्रतीत होता है। इससे यही अनुमान

निकाला जा सकता है कि ये परवाने आदि सब साधारण के बोल-चाल की भाषा ही में लिखे जाते थे।

इसके अनंतर सं० १४०७ तक किसी प्रकार की गद्य भाषा का पता अब तक नहीं लग सका है। इसी समय महात्मा गोरखनाथ जी का, जो कि अमीर ख़ुसरो के समकालीन माने जाते हैं, रचना-काल आता है। संस्कृत और भाषा दोनों के ये बड़े विद्वान थे और हिंदी में इनके गद्य-ग्रंथ भी मिले हैं। कुछ विद्वानों को अभी तक इनके ऐतिहासिक पुरुष होने में ही संदेह था, वे इनका अस्तित्व ही कल्पना (Myth) कहकर उड़ा देते थे; पर अब इनको अपनी राय बदल देनी पड़ी है। इनका एक हिंदी गद्य-ग्रंथ "गोरख-बोध" जिसका आकार १२१५ अनुष्टुप श्लोकों के बराबर है, अभी थोड़े ही दिन हुए, मिला है। यह ग्रंथ जोधपुर के राज-पुस्तकालय में है और इसमें छोटे-छोटे २७ ग्रंथ संगृहीत हैं। इनका कुछ अंश पद्य में भी है और उनके गद्य की भाषा का झुकाव व्रजभाषा की ओर अधिक है। नमूना देखिये :—

गोरखनाथ (१२ वीं शताब्दी)

"स्वामी तुमै तौ सतगुरु अम्है तौ सिव सबद एक पुछिबा, दया करि कहिबा, मन न करिबा रोस। पराधीन उपरांति बंधन नाहीं। सु आधीन उपरांति मुकुति नाहीं। काम उपरांति मल नाहीं। निहकम उपरांति निरमल नाहीं। दुष उपरांति कुबुधि नाहीं। निरदोष उपरांति सुबुधि नाहीं। सुसबद उपरांति इति पोष नाहीं। अजपा उपरांति इति जाप नाहीं। घोर उपरांति इति तंत्र

नाहीं । नारायण उपरांति इति ईसट नाहीं । इति गोरखनाथ जी कोसिसहि परवाण ग्रंथ संपूरण समापता ।"

अब तक हिंदी के प्रथम गद्य-लेखक गोरखनाथ जी ही माने जा रहे हैं । इनके उपरांत फिर प्रायः दो सौ वर्ष तक किसी गद्य-लेखक का पता नहीं चलता । सं० १६०० के लगभग महात्मा वल्लभाचार्य के पुत्र स्वामी बिट्ठलनाथ जी ही अभी तक हिंदी के द्वितीय गद्य-लेखक माने जाते हैं । इनका केवल एक ग्रंथ "शृङ्गाररसमंडन" खोज में मिला है । भाषा इनकी शुद्ध ब्रजभाषा है । स्मरण रखना चाहिये कि यह अष्टछाप के कवियों का समय था, जिसे कि हिंदी कविता का मध्यकाल कहना चाहिए । इस समय साहित्य का केंद्र राजस्थान से हटकर पश्चिम में आगरा, मथुरा और पूर्व में काशी के आसपास स्थापित हो रहा था । पूरब में अवधी का और पश्चिम में ब्रजभाषा का राज्य था । इन दिनों देश में सूर और तुलसी जैसे महाकवियों का आविर्भाव हुआ था और गद्य की किसी को परवाह न थी । बिट्ठलेश के पुत्र गोकुलनाथ जी ने अपने संप्रदाय-पुष्टि-मार्ग के प्रचार के लिये ब्रजभाषा गद्य में चौरासी और दो सौ बावन "वैष्णवों की वार्ता" लिखी । इन्हें उन्होंने साहित्यिक दृष्टि से नहीं लिखा था, इनका उद्देश्य केवल अन्य संप्रदायों से अपने संप्रदाय को श्रेष्ठ सिद्धकर अपने भक्तों की संख्या बढ़ाना था । प्रायः प्रत्येक वार्ता में यही विषय है कि कैसे अमुक मनुष्य, जो पहले किसी अन्य संप्रदाय या 'मार्ग' का अनुयायी था और वह कैसे घटना-चक्रवश 'नवनीत प्रिया जू' के चमत्कारों (miracles) पर मुग्ध हो 'सखड़ी' 'अनसखड़ी'

प्रसाद के फेर में पड़कर अंत में पुष्टिमार्ग का अनुयायी हो गया। इनकी भाषा उन दिनों की व्रजभाषा है। उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं, इनकी वार्ताएँ अब छप गई हैं और बनारस में मिलती हैं। कुछ लोग इन वार्ताओं को साहित्य में स्थान देने में इसलिये कठिनाई समझते हैं कि ये मत-प्रचार की दृष्टि से लिखी गई थीं, पर जो हो यह सभी को मानना होगा कि कथा-कहानी के रूप में लम्बे-लम्बे वर्णनात्मक लेख लिखने की परिपाटी पहले-पहल इन्होंने ही चलाई। इनकी शैली में वैयक्तिकता की छाप न होने पर भी एक प्रकार की सरलता और मधुरता अवश्य है। सर्व साधारण इनके वक्तव्य को भली प्रकार समझ सकें; इसलिये उन्होंने सरल बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया और उसमें समय समय पर प्रचलित विदेशी शब्दों को लेने में भी नहीं हिचके तथा इसका विरोध भी कुछ लेखकों ने किया।

अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नंददास के गद्य-ग्रन्थ "विज्ञानार्थ-प्रकाशिका" और "नासिकेतु पुराण भाषा" मिले हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने गद्य में एक फ़ैसला-नामा या पंचनामा लिखा था, जो महाराज बनारस के पुस्तकालय में वर्तमान है। यह भाषा इन दिनों की काशी-प्रयाग के आस पास की बोलचाल की भाषा मानी जा सकती है; अतः इसका थोड़ा सा नमूना देखिए—

"मौजे भदेनी मह अंश पाँच तेहिमह अंश दुइ आनन्दराम तथा लहरतारा सगरेउ तथा छितुपुरा अंश टोडरमलुक तथा नचपुरा अंश टोडरमल की हील हुज्जती नास्ती।"

भक्तवर नाभादास के लिखे हुए "अष्टयाम" नामक एक गद्य-

ग्रन्थ का पता चला है, जो महाराज छत्रपुर के पुस्तकालय में है। इनके गद्य की भाषा देखिये :—

"तब श्री महाराज कुमार प्रथम बशिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भये। फिरि अपर वृद्ध-समाज तिनको प्रनाम करते भये।"

यह भाषा ब्रजभाषा नहीं है, बल्कि भागवत, महाभारत इत्यादि सुनानेवाले कथक्कड़ों की सी जान पड़ती है।

यथार्थ में गोकुलनाथ के बाद लल्लू जी लाल के रचना-काल तक कोई ऐसे गद्य-ग्रंथ या गद्य-लेखक का पता नहीं मिलता, जिसका उल्लेख आवश्यक हो। इस समय के अंदर रीति-काल के कुछ कवियों ने अपने अलंकार ग्रंथों में कहीं कहीं टिप्पणी के रूप में कुछ गद्य लिखा है।

रीति-काल के निम्नलिखित कवियों के ग्रंथों में कहीं-कहीं कुछ गद्य मिलता है।

केशवदास ने कविप्रिया में कहीं कहीं कुछ गद्य लिखा है। चिंतामणि त्रिपाठी ने भी रीति-ग्रंथ में कुछ गद्य लिखा है। देव ने अपने "शब्दु-रसायन" नामक ग्रंथ में गद्य के उदाहरणार्थ एक वाक्य दिया है, जो देखने योग्य है :—

"महाराज राजाधिराज ब्रजजनसमाजविराजमान चतुर्दश-भुवनविराज वेदविधिविद्यासामग्रीसम्राज श्री कृष्णदेव देवाधि-देव देवकीनंदन जदुदेव यशोदानन्द हृदयानन्द कंसादिनिकंदन बंसावतंश अंसावतारसिरोमणि विष्टयनयनिविष्ट गरिष्टपद-त्रिविक्रमण जगतकारणभ्रमणनिवारण मायामयविभ्रण सुर-

रिपिसखासंगमन राधिकारमण सेवकवरदायक गोपीगोप कुल-सुखदायक गोपालबालमंडलीनायक अघघायक गोवर्धनधारण महेन्द्रमोहापहरण दीनजनसज्जनसरण ब्रह्मबिस्मयविस्तरण पर-ब्रह्म जगतजन्ममरणदुःखसंहरण अधमोद्धरण विश्वंभरण निर्मल-जसकलिमलविनासन कमलनयन चरणकमलजलत्रिलोकीपावन श्री बृन्दावनविहरण जय जय।"

यह वाक्य हमें कादम्बरी-कार बाण-भट्ट की याद दिला देता है। इस प्रकार का गद्य कहीं की बोलचाल की भाषा नहीं हो सकती। देव जी के मत से शायद आदर्श गद्य का नमूना यही था। अब इसी प्रकार श्रीपति और दास जी के रीति-ग्रंथों में भी कहीं-कहीं ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग किया गया है; परंतु उनकी भाषा साधारण बोलचाल की ब्रजभाषा मालूम होती है।

इन रीति-काल के कवियों के अतिरिक्त इसी समय के आस-पास कुछ टीकाकारों का गद्य भी मिलता है, जिनमें तीन अधिक प्रसिद्ध हैं—सुरति मिश्र, जानकीप्रसाद तथा किशोरदास।

सुरतिमिश्र का रचना-काल सं० १७६७ के आसपास है। इन्होंने कुछ ग्रंथों पर टीकाओं के अतिरिक्त ब्रजभाषा गद्य में "बैताल पंचीसी" नाम का एक स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखा है।

इन टीकाओं के गद्य को ध्यान से देखने से ज्ञात होता है कि इन्होंने ब्रजभाषा ही में ग्रंथ की व्याख्या करने की चेष्टा की थी, परंतु उस व्याख्या या टीका की भाषा इतनी दुरूह होती थी कि मूल ग्रंथ चाहे आप समझ भी लें, पर उनकी टीका का समझना

ज़रा कठिन है। उदाहरण के लिये जानकीप्रसाद जी की रामचन्द्रिका की टीका की भाषा देखिये—

मूल—राघव सर लाघव गति छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सकल अँसु सहित मानहु उड़ि कै गयो॥—केशव

टीका—"सकल कहैं अनेक रंग मिश्रित हैं, अँसु कहैं किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं तिन सहित मानों कलिंद गिरि शृंग ते हंस कहे हंसन समूह उड़ि गयो है। ह्याँ जाति विषय एक बचन है हंसन के सदृश श्वेत छत्र हैं और सूर्यन के सदृश अनेक रंग नग-जटित मुकुट हैं।"

इसी ढंग की इस समय की अन्य टीकायें भी हैं। इन टीकाओं का ध्यान विस्तारपूर्वक केवल नाना प्रकार के अर्थ करने में ही परिमित था। विविध भावों के व्यक्त करने के लिये एक छंद की व्याख्या कहीं-कहीं पाँच-पाँच छः-छः पृष्ठों तक चली गई है, पर काव्यांगों पर प्रकाश डालने की चेष्टा कहीं नहीं की गई। भाषा प्रायः सभों की ब्रजभाषा तो है, पर गोकुलनाथ के गद्य से एक बात में निश्चय रूप से भिन्न है। वैष्णवों की वार्ताओं में हमें प्रायः विदेशी शब्द मिल जाते हैं, जो कि अवश्य ही उसी समय से यहाँ के घरेलू शब्द से हो गये होंगे; परंतु इन टीकाओं की भाषा में इस प्रकार के शब्दों का एक प्रकार से पूरा वहिष्कार सा देख पड़ता है और जहाँ उन्हें साधारण बोलचाल की भाषा के शब्द नहीं मिले, वहाँ उन्होंने संस्कृत के शब्दों से काम लिया है। इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो शायद यह कि गोकुलनाथ जी की मिश्रित शैली शायद इन्हें दोषपूर्ण या गर्ह्य प्रतीत हुई और

उसमें से ग्रामीण और अधिकतर विदेशी शब्दों का बहिष्कार कर उन्होंने व्रजभाषा गद्य को परिमार्जित करने की सोची हो या पंडिताई दिखलाने की नीयत से ऐसा हो गया हो। किशोरदास जी की श्रृंगार-शतक की टीका से भी यही बात सिद्ध होती है। इस प्रकार व्रजभाषा में टीका करने की परिपाटी बहुत दिन तक चली गई है। खड़ी बोली में गद्य लिखने की परिपाटी लल्लूलाल आदि के प्रयत्न से स्थापित हो जाने के बाद भी टीका और तिलक लिखने-वाले बराबर व्रजभाषा ही का व्यवहार करते गये। सरदार कवि का रचना-काल सं० १९०२ के लगभग है। इन्होंने बड़े श्रम से सूर के दृष्टकूटों पर एक बड़ी विशद टीका लिखी और केशव की 'प्रियाओं'' का भी तिलक किया है, परंतु भाषा वही व्रजभाषा ही है।

उदाहरण—"या रसिकप्रिया के पढ़े रति मति अति बढ़ै और सब विरस कहा नव रस तिनको रीति जाने और स्वारथ कहा याके पढ़े चातुर्यता लहै तब सब राजा प्रजा को वल्लभ होय या भाँति तो स्वारथ लहै और श्रीकृष्ण राधा का वर्णन है याते तिनके ध्यान को परमारथ लहै याते रसिकप्रिया की दोऊ बातें सिद्ध हो.हीं।"

इनकी टीकाएँ अन्य टीकाओं की अपेक्षा अधिक विद्वत्तापूर्ण हुई हैं। इन्होंने काव्यांगों का भी अच्छा निरूपण किया है।

इन व्रजभाषा में टीका या कथा लिखनेवालों का गद्य इस प्रकार का कभी भी नहीं हुआ कि उसे साहित्य-कोटि में रक्खा जा सके। यद्यपि ऊपर उल्लेख किए हुए लेखकों के अतिरिक्त और

भी बहुत से ब्रजभाषा गद्य में टीका या अनुसंधानात्मक लेख लिखनेवालों का पता पंडित-समाज को लगा है; पर यह सब होते हुए भी ब्रजभाषा गद्य में स्वतन्त्र साहित्य नहीं ही के बराबर है। केवल गोकुलनाथ की वार्त्ताओं में वर्णनात्मक तथा इतिहासात्मक लेख मिलते हैं, अन्यत्र नहीं; परंतु इससे यह निष्कर्ष भी नहीं निकाला जा सकता कि गद्य के इस प्राचीन काल में जो कोई कुछ गद्य लिखता था, वह ब्रजभाषा ही में लिखता था; क्योंकि मेरे विचार से खड़ी बोली के गद्य के संबंध में यह धारणा कि इसके सृष्टिकर्ता लल्लू लाल जी अथवा उनके समकालीन इन्शाअल्ला आदि ही हैं, निर्मूल है और इसके साथ ही यह समझना कि ब्रजभाषा का अस्तित्व खड़ी बोली से कुछ पुराना अवश्य है, भी मेरे विचार से भ्रमपूर्ण है। ब्रजभाषा के प्रेमी कभी-कभी यहाँ तक कह डालते हैं कि आधुनिक खड़ी बोली, उर्दू या हिन्दुस्तानी ये सब ब्रजभाषा ही से निकली हैं। खड़ी बोली की कविता तो ख़ुसरो के समय से मिलती ही है। ख़ुसरो, कबीर आदि की कविता में खड़ी बोली की छटा बराबर देखने को मिलती है। खड़ी बोली में गद्य के उदाहरण भी वैष्णवों की वार्ता से पुराने देखने को मिल सकते हैं। मिश्र-बंधुओं का कहना है कि सं० १६२७ के लगभग गंगा-भाट अथवा पंडित विष्णुदास नामक एक कवि ने "चन्द छन्द बरनन की महिमा" नाम की १६ पृष्ठ की एक पुस्तक खड़ी बोली गद्य में लिखी, इसमें कवि ने बादशाह अकबर से चंद बरदाई कृत रासो का वर्णन किया है। अब तक विद्वानों का यही मत था कि खड़ी बोली-गद्य का पहला लेखक

"गोरा बादल की कथा" का रचयिता जटमल है, जिसका रचना-काल गोकुलनाथ के बाद सं० १६८० में आता है। अब सं० १६२७ के अकबर के समय के लिखे हुए इस ग्रन्थ "चन्द-छन्द बरनन की महिमा" के प्राप्त हो जाने से यह धारणा भ्रांत सिद्ध हो गई है।

जटमल के गद्य का उदाहरण :—

"×××× गोरा बादल की कथा गुरु के बस सरस्वती के मेहरबानगी से पूरन भई तिस वास्ते गुरु कूँ सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ। ये कथा सोल से अस्सी के साल में फागुन सुदी पूनम के रोज़ बनाई। ×××× हे बात की सा चित्तौड़ गढ़ के गोरा बादल हवा है जीनकी वार्त्ता की कीताब हींदवी में बनाकर तयार करी है।" इत्यादि।

अपने ग्रन्थ को 'हिंदवी' में रचा हुआ कहनेवाले पहले महाशय जटमल ही हैं।

खड़ी बोली के सम्बन्ध में एक और भ्रमपूर्ण धारणा है। कुछ उर्दू-फ़ारसी के प्रेमी विद्वानों का कथन है कि खड़ी बोली की उत्पत्ति का श्रेय मुसलमानों और उनकी भाषा उर्दू और फ़ारसी को है। इन विद्वानों का कहना है कि जो भाषा आज कल खड़ी बोली के नाम से प्रसिद्ध है, उसका मूलरूप उर्दू है और आधुनिक गद्य का रूप इसी उर्दू के अरबी-फ़ारसी के शब्दों को निकालकर बना है।

इस भ्रमपूर्ण धारणा का कारण मेरी समझ में यही है कि देश के मध्यकालीन साहित्य की भाषा अवधी और ब्रजभाषा

था। खड़ी बोली बघेली, कन्नौजी आदि भिन्न-भिन्न प्रान्तों की अन्य बोलियों की भाँति एक कोने में बहुत दिन तक पड़ी रह गई, साहित्य या काव्य में उसका व्यवहार एक प्रकार से नहीं ही हुआ। व्रजभाषा पश्चिम में सर्वमान्य साहित्यिक भाषा हो गई थी। कानपुर से लेकर दिल्ली और अजमेर तक के कवि व्रजभाषा में कविता करते थे और दिल्ली और मेरठ के आसपास बोली जानेवाली खड़ी बोली का साहित्यिक-संस्कार ख़ुसरो सरीखा कोई बिरला ही कर देता था, बल्कि हमारी तो धारणा यह है कि ख़ुसरो के रचना-काल के पहले भी खड़ी बोली में गीत या तुकबंदियों के रूप में कुछ पद्य लिखने की परिपाटी अवश्य रही होगी, जिसके ढंग पर उन्होंने लिखा। ख़ुसरो के पहिले के खड़ी बोली के उदाहरण भी मिले हैं। ख़ुसरो ने यदि कोई नया काम किया तो वह केवल यही था कि उन्होंने फ़ारसी पद्य के साँचे में खड़ी बोली को ढालने का प्रयत्न किया। बाद में मुसलमान लेखकों ने तथा जनसाधारण ने विदेशी शब्दों की भरमार इतनी अधिक कर दी कि वह हिंदी कवियों को मुसलमानों की ख़ास भाषा सी जँचने लगी। बात यह थी कि खड़ी बोली के बोले जाने का प्रांत दिल्ली और मेरठ के आसपास था और मुसलमानों के इन प्रान्तों में डट जाने के पहले भी यहाँ खड़ीबोली बोली जाती थी। कुछ खोज करनेवालों को हमीर और भोज के समय तक के खड़ीबोली के उदाहरण प्राप्त हुए हैं। पीछे कुछ काल-चक्र ऐसा घूमा कि खड़ीबोली का प्रांत ही मुसलमानों का राजनीतिक और साहित्यिक केंद्रस्थल बन गया। इनकी

असली भाषा फ़ारसी थी; पर यहाँ के लोगों के साथ व्यवहार करते करते इन्हें यहाँ की बोली सीखनी पड़ी। दिन-रात के परस्पर के संबंध से बहुत से मुसलमानों को यहाँ की भाषा इतनी अच्छी लगी कि ब्रजभाषा और अवधी के कई उच्च कोटि के कवि भी हो गये। जायसी, रहीम, रसखान की उपमा हम किससे दें? पर यह तो हुई कविता की बात। मुसलमानों की राजधानी देल्ली, आगरे इत्यादि के आसपास, सर्वसाधारण के नित्य व्यवहार की बोली ब्रजभाषा और खड़ीबोली में हिंदुओं और मुसलमानों के सहवास से क्रमशः अरबी, फ़ारसी के बहुत से ज़रूरी शब्द मिलने लगे और ऐसा होना आवश्यक भी था। शासक और शासित के लिये एक ऐसी बोली की नितांत आवश्यकता थी, जिसका शब्द-भंडार दोनों के लिये कुछ अंश तक साधारण हो। सारांश यह कि खड़ीबोली और कुछ कुछ ब्रजभाषा के मिश्रित साँचे ही में अरबी, फ़ारसी और तुर्की के नित्य प्रति व्यवहार में आनेवाले शब्दों को भर, भाषा का एक वह रूप तैयार हो रहा था, जो आगे चलकर उर्दू के नाम से प्रसिद्ध हुआ; परंतु स्मरण रहे, व्याकरण जो भाषा का प्राण है; खड़ीबोली ही का रहा। इसी मिश्रित भाषा में शायरी भी प्रचुर परिणाम में होने लगी, मुसलमान लोग सुभीते के लिये इस भाषा के लिखते समय फ़ारसी लिपि ही का व्यवहार करते थे। आगे चलकर गद्य के लिये खड़ीबोली का व्यवहार प्रायः सभी हिंदी-लेखक करने लगे और उसमें से प्रचलित विदेशी फ़ारसी आदि शब्दों को निकालना आरंभ कर दिया, यद्यपि यह उनकी भारी भूल थी। मुसलमानों

ने सुभीते के लिये ही पहले अरबी, फ़ारसी के शब्दों से संयुक्त खड़ीबोली को फ़ारसी लिपि में लिखना शुरू किया और सुभीते के लिये ही खड़ी बोली का यह रूप कचहरियों और दरबारों में प्रयुक्त होने लगा और क्रमशः शासकों के प्रभाव से इसका प्रचार बहुत अधिक बढ़ गया। यहाँ तक कि जिस किसी को भी राज दर्बार, कचहरी वा किसी भी सरकारी मुहकमे से किसी प्रकार का संबंध रखने की आवश्यकता होती, उसे भाषा के इस नए रूप में लिखना-पढ़ना जानना एक प्रकार से अनिवार्य सा हो गया था। क्रमशः इसमें विदेशी शब्दों का प्राधान्य हो गया और लिपि भी विदेशी होने के कारण अभाग्यवश यह एक विदेशी भाषा ही समझी जाने लगी। दरबार में सम्मानित होने के कारण लोग बड़े चाव से इसका अभ्यास करते थे और इसी में चिट्ठी आदि सभी प्रकार के व्यवहार होने लगे।

अब उर्दू नाम से पुकारी जानेवाली भाषा जब इस अवस्था को प्राप्त हो चुकी थी तब उसके बाद लल्लू जी लाल आदि का आविर्भाव हुआ। जटमल के गोरा बादल की कथा के बाद सं० १९१० के लगभग एक अज्ञात कवि की लिखी हुई "चकत्ता की पातस्याही की परम्परा" नामक १०० पृष्ठ का एक खड़ी बोली का गद्य-ग्रंथ और मिला है। इस ग्रंथ की रचना के ५०० वर्ष के उपरांत ईस्ट इंडिया कंपनी का सिक्का जम जाने के बाद कलकत्ते के फ़ार्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष जान गिल क्रीस्ट साहब ने हिंदी गद्य में पाठ्य पुस्तकें बनाने के लिये लल्लूलाल जी और पं० सदल

मिश्र को नियत किया था। उर्दू में भी पाठ्य पुस्तकें गिलक्रीस्ट साहब ने लिखवाई थीं। यह समय सं० १८६० के लगभग था। बहुत से लोगों का मत है कि खड़ी बोली का जन्म इसी समय से हुआ और यह वह समय था, जब कि खड़ी बोली का वह रूप जो उर्दू नाम से प्रसिद्ध है, भाषा और साहित्य दोनों की दृष्टि से परिमार्जित हो चुका था और ऐसा होने का कारण भी हम ऊपर दे चुके हैं। लल्लू जी लाल के समय के बहुत दिन बाद तक भी उर्दू का प्रचार दिनों दिन बढ़ता ही गया और अंत में अवस्था यहाँ तक पहुँच गई कि अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे लोग नागरी लिपि में अपना नाम भी लिखना भूल गये और अपना सब काम उर्दू ही में करते थे। गद्य का सब काम देश में उर्दू द्वारा ही होने लगा। उर्दू की शायरी भी इतनी लोकप्रिय हो गई कि ब्रजभाषा की कविता भी दब चली। "जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे, वह फ़ारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिंदी भाषा हिंदी न रहकर उर्दू बन गई। हिंदी उस भाषा का नाम रहा, जो टूटी-फूटी तौर पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी *।" कचहरियों में फ़ारसी लिपि के प्रचार से नागरी अक्षरों पर भी कुठाराघात हुआ।

बात यह थी कि रीति काल के कवि अधिकतर अपने आश्रय-दाताओं के लिए ही लिखते थे, स्वान्तः सुखाय अथवा भक्ति से प्रेरित होकर लिखना सूर और तुलसी ही तक था। मुसलमानी दरबार में उर्दू शायरी का मान क्रमशः अधिक हो चला। हिंदी के

*बाबू बालमुकुंद गुप्त के एक लेख से।

कवि आश्रयदाताओं के अभाव से मारे मारे फिरने लगें। सर्व साधारण की रुचि भी उर्दू शायरी की ओर अधिक हो चली थी। लल्लू लाल के समय के ५० या ६० वर्ष के उपरांत राजा शिव-प्रसाद तथा हरिश्चंद्र आदि कुछ साहित्य-प्रेमियों को पता लगा कि हिंदी का अस्तित्व ही अब लोप होनेवाला है। हिंदी की म्रियमाण अवस्था को देखकर पं० बालकृष्ण भट्ट ने एक बार कहा था :—

"गोद्य प्रायः (हिंदी) में बहुत ही कम और पोच है। सिवाय एक प्रेमसागर की सी दरिद्र रचना के इसमें कुछ है ही नहीं, जिसे हम इसके साहित्य के भंडार में शामिल करते। दूसरे उर्दू उसकी ऐसी रेढ़ मारे हुये है कि शुद्ध हिन्दी तुलसी, सूर इत्यादि कवियों की पद्य-रचना के अतिरिक्त और कहीं मिलती ही नहीं।"

बाबू बालमुकुंद गुप्त ने भी इसी प्रकार हिंदी की नितांत शोचनीय अवस्था पर खेद प्रकट किया था। इस प्रकार इतनी देर बाद, फ़ारसी-मिश्रित खड़ी बोली उर्दू के रूप में उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकने के बाद हिंदुओं ने खड़ीबोली को एक नए ही ढंग से उठाना शुरू किया। मेरे विचार से यह ढंग ठीक नहीं था। इन लोगों ने अभाग्यवश उर्दू को एक दूसरी ही भाषा मानकर उसके विरोध में खड़ीबोली में से छाँट छाँट कर प्रचलित अरबी फ़ारसी के शब्दों को निकालना शुरू किया और इनके स्थान पर संस्कृत के मृत तत्सम शब्दों को क़ब्र से उखाड़कर बिठाने लगे। इससे दो बातें हुईं। एक तो यह कि उर्दू-हिंदी का पार्थक्य या अंतर, यदि वास्तव में दोनों में किसी प्रकार का पार्थक्य था, दिन पर दिन और भी बढ़ने लगा; दूसरे यह कि मुसलमानों तथा

अन्य उर्दू-प्रेमियों को यह कहने का मौक़ा मिला कि उर्दू ही से फ़ारसी आदि के शब्दों को निकालकर खड़ीबोली बनी है। मेरे विचार से राजा शिवप्रसाद का मार्ग ठीक था। इन्होंने नागरी लिपि में "बनारस अख़बार" नामक पत्र निकालना शुरू किया था, जिसकी भाषा में जान-बूझकर संस्कृत तथा फ़ारसी दोनों ही के शब्द कंधे से कंधा सटाकर बिठाए जाते थे। हमारा विश्वास है कि वे इस बात को समझ गए थे कि उर्दू कोई दूसरी भाषा नहीं; बल्कि फ़ारसी लिपि में लिखी जानेवाली खड़ी बोली ही का नाम उर्दू पड़ गया था। भेद केवल इतना ही था कि उसमें फ़ारसी के प्रचलित शब्दों की अधिकता हो गई थी। व्याकरण आदि सब वही थे, जो खड़ी बोली के थे। ऐसी अवस्था में हिंदी के प्रचार के निमित्त सबसे प्रथम आवश्यकता केवल नागरी लिपि के प्रचार की थी। भेदभाव को, यदि वास्तव में कोई भेदभाव आ ही गया था—मिटाने के लिये इससे अच्छा और कोई उपाय नहीं हो सकता था कि नागरी लिपि में विदेशी समझे जानेवाले फ़ारसी आदि के प्रचलित शब्दों के साथ ही साथ शुद्ध हिंदी और संस्कृत प्रचलित शब्द बेधड़क प्रयुक्त होते। राजा शिवप्रसाद लिखते थे—"अपने क़िस्म की अद्वितीय" अब इस समय यदि कोई हिंदी का लेखक ऐसा वाक्य लिखे तो लोग उसकी हँसी उड़ाए बिना न रहेंगे। सबसे निदारुण बात यह हुई कि अभाग्यवश इस प्रश्न ने आगे चलकर सांप्रदायिक रूप पकड़ लिया।

इन सब बातों के कहने से मेरा तात्पर्य सिर्फ़ यही था कि खड़ी बोली, जो वर्तमान समय में हिंदी के गद्य और पद्य दोनों

प्रकार के साहित्य के लिये प्रधान माध्यम हो रही है, न तो लल्लूलाल आदि की उत्पन्न की हुई कोई नई भाषा है और न यह उर्दू नाम की भाषा से अरबी और फ़ारसी के शब्दों को निकालकर ही बनाई गई है। इसका अस्तित्व उतना ही पुराना है, जितना ब्रजभाषा आदि अन्य प्रांतिक बोलियों का हो सकता है। पद्य में इसका साहित्यिक प्रयोग ख़ुसरो के समय से मिलता है और गद्य में इसका पहला ग्रंथ 'चंद बरनन की महिमा' अकबर के समय का लिखा हुआ है, जब कि उर्दू नाम की किसी भाषा के अस्तित्व से लोग अनभिज्ञ थे। अस्तु

हमारे किए हुए विभाग के अनुसार गद्य का प्राचीन काल सं० १८६० (सन् १८०३) में लल्लूलाल जी आदि के साथ समाप्त हो जाता है। प्राचीन गद्य का अंतिम ग्रंथ जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि किसी अज्ञात नाम कवि का सं० १८१० का लिखा हुआ "चकत्ता की पातस्याही की परंपरा" है और इसके सबसे प्राचीन उदाहरण शाही समय के शाही परवाने हैं। इस दीर्घकाल में प्राधान्य ब्रजभाषा गद्य ही का रहा, जिसमें सबसे प्रधान ग्रंथ वैष्णवों की वार्ताएँ हैं; परंतु इस समय तक जो कुछ गद्य ब्रजभाषा या खड़ी बोली में मिलता है, वह यद्यपि प्रदर्शिनी या अजायबघर ही में रखने योग्य है तथापि इसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। सं० १८६० अर्थात् १८०३ ई० के लगभग हम खड़ी बोली के चार गद्य-लेखकों को देखते हैं।

इनमें से सबसे पहले लेखक दिल्ली-निवासी लाला सदासुख

लाल (सं० १७४६-१८२८) थे। इन्होंने खड़ी बोली में भागवत का स्वतंत्र अनुवाद 'सुखसागर' नाम से किया।

(१) सदासुखलाल इन्होंने लल्लूलाल जी अथवा सदल मिश्र की भाँति तत्कालीन नई गवर्नमेंट की प्रेरणा से पाठ्य पुस्तक लिखने के उद्देश्य से अपना ग्रंथ नहीं लिखा था। इन्होंने यथार्थ में हिंदी को गिरी हुई मृतप्राय अवस्था में देखकर उसे फिर से जीवित करने के लिये सबसे पहला प्रयत्न किया। ये वास्तव में उर्दू और फ़ारसी के विद्वान् थे और शायरी भी करते थे। ऐसी अवस्था में इनका हिंदी की सेवा में सबसे प्रथम अग्रसर होना इस बात को सूचित करता है कि हिंदी के पुनरुत्थान के लिये ही इन्होंने लेखनी उठाई और वास्तव में तो ये उर्दू ही के लेखक थे। उन्होंने अपने एक शेर में कहा भी है—"रस्मो रिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया।" मुसलमान और उर्दू-प्रेमी हिंदी को उन दिनों 'भाखा' कहते थे; पर लालाजी उर्दू के विद्वान् और उर्दू के केंद्रस्थल दिल्ली के निवासी होते हुए भी हिंदी लिखते समय अपनी उर्दू भूल गए। इनकी हिंदी उन दिनों के बचे-खुचे हिंदी-प्रेमियों की शिष्ट भाषा सी मालूम होती है। यह भाषा इस समय के कथा-वाचकों, साधु-संतों और पंडितों के द्वारा उत्तर तथा मध्य भारत में यथेष्ट रूप से प्रचलित हो चुकी थी। इनका एक वाक्य देखिये :—

"विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतो वृत्ति है, वह प्राप्त हो और इससे निज स्वरूप में लय हुजिये" इसी

एक वाक्य ही से पता चल जायगा कि प्रचलित फ़ारसी शब्दों को न आने देने के लिये इन्होंने बड़ा श्रम किया था।

(२) इन्शा अल्ला ख़ाँ

इन्शा अल्ला ख़ाँ दरबारी शायर थे और उर्दू फ़ारसी के विद्वान् थे। इन्होंने ठेठ हिंदी में "रानी केतकी की कहानी" नाम की एक किताब लिखी; परंतु उनका उद्देश्य हिंदी का उद्धार या प्रचार न था। वे एक मौजी विद्वान् थे और दिल्ली के शाह आलम और लखनऊ के सआदत अली के राजदर्बार में अपनी तबीयतदारी और स्वतंत्र प्रकृति के लिये प्रसिद्ध थे। आत्माभिमान की मात्रा भी इनमें कम न थी और वैसी ही इन्हें अपनी विद्वत्ता का घमंड भी था। ये लोगों के सामने एक नई ही चीज़ पेशकर उन्हें चकित कर देना चाहते थे और लोगों के इस विश्वास को कि ऐसी भाषा नहीं लिखी जा सकती कि जिसमें संस्कृत, विदेशी अरबी-फ़ारसी इत्यादि तथा ग्रामीण शब्दों का पूर्ण रूप से वहिष्कार हो, अन्यथा सिद्ध कर दिखाना चाहते थे। इन्हीं के शब्दों में उन्हें एक दिन बैठे बैठे वह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए "कि जिसमें हिंदी की छुट और किसी बोली की पुट न हो; तब जाके मेरा जी कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। एक पुराने ढाँग बूढ़े घाघ यह खटराग लाये। ××× हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न दे यह नहीं होने का। मैंने उनकी ठंडी साँस

का टहोका खाकर झुँझलाकर कहा—मैं कुछ ऐसा बड़बोला नहीं, जो राई को पर्वत कर दिखाऊँ और झूठ सच बोलकर उँगलियाँ नचाऊँ × × × × (पर) जो मुझसे न हो सकता तो यह बात मुँह से क्यों निकालता × × × दहना हाथ मुँह पर फेर आपको जताता हूँ, जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद और लपट-झपट दिखाऊँ कि देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल अचपलाहट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय। × × × × अब कान रख के आँखें मिला के सम्मुख होके टुक इधर देखिये किस ढब से बढ़ चलता हूँ और अपने अपने फूल की पंखड़ी जैसे होंठों से किस किस रूप के फूल उगलता हूँ।"

इस उद्धरण से खाँ साहब का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। वे हिंदी संसार के सामने व्यावहारिक दृष्टि से असंभव समझी जाने-वाली एक नई लेखन-शैली रचना चाहते थे और इस प्रकार लोगों को अपनी असाधारण प्रतिभा से स्तब्ध कर देना चाहते थे और यथार्थ में उन्होंने किया भी वैसा ही। इनकी इस छोटी सी पुस्तक में आदर्श गद्य के कई लक्षण विद्यमान हैं। पग पग पर इनकी तबीयत का पता चलता है। इनकी विनोद-पूर्ण प्रकृति का पता तो ऊपर दिए हुए उद्धरण ही से चल जाता है। उर्दू-फ़ारसी के शायर होने की वजह से उनकी भाषा में चुस्ती, सरलता और मुहाविरों की खासी बहार सर्वत्र देखने में आती है। अपनी विनोदपूर्ण शैली ही में वह कभी कभी गंभीर भावों और मानव-हृदय के गूढ़ रहस्यों की व्याख्या भी कर डालते हैं। कहीं भी

शिथिलता का नाम नहीं है। हाँ, एक बात अवश्य है कि इनकी शैली में गंभीरता कम है और उसके बदले में चुलबुलाहट अधिक है। एक एक अक्षर, एक एक शब्द, मानो कूद-फाँद कर, मटक मटक कर आगे बढ़ता है, विचारवान् बूढ़ों की तरह सँभल सँभल कर पग धरना नहीं जानता। किसी भी भाव को वे सीधी तरह न कहकर घुमा-फिरा कर एक विचित्र प्रकार से कहेंगे, दूसरे शब्दों में हम उन्हें एक वक्रोक्ति-कुशल लेखक कह सकते हैं। उपमाओं और रूपकों का भी कहीं कहीं बहुत फबता हुआ प्रयोग इन्होंने किया है। मौ० आज़ाद का कहना है कि "उनके अल्फ़ाज़ मोती की तरह रेशम पर ढलकते आते हैं × × × × × इनके कलाम का बन्दोबस्त अरगन-बाजे की कसावट रखता है × × × × इनके निरर्थक शब्द भी एक तरह का मज़ा ही देते हैं।" इन गुणों के कारण इनकी शैली विचित्र कही जा सकती है। इनकी शैली का प्रभाव कुछ इनके परवर्ती लेखकों पर भी पड़ा, जिनमें पं० प्रतापनारायण मिश्र मुख्य थे।

सबसे मार्के की बात इनकी पुस्तक के संबंध में यह है कि इन्होंने इसे फ़ारसी लिपि ही में लिखा था और ये स्वयं अपनी इस पुस्तक को हिंदी या 'हिंदवी' में लिखी हुई कहते हैं। इससे यदि हम चाहें तो निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इन्शाअल्ला इस बात को ख़ूब समझते थे कि उनकी पुस्तक फ़ारसी लिपि में होने की वजह से ही अपने हिंदवीपन से हाथ न धो बैठेगी। वास्तव में यदि ध्यान से देखा जाय तो इस पुस्तक में 'उर्दूपन' भी बहुत मिलेगा। कृदंत शब्दों में विभक्ति-चिन्ह लगाना; जैसे—'आतियाँ जातियाँ, जो साँसें

हैं', शीर्षकों में कर्म को आगे रखना; जैसे—"डोलडाल एक अनोखी बात का" आदि प्रयोग उर्दू की विशेषताएँ हैं; परंतु इन सब बातों के होते हुए और मूल पुस्तक के फ़ारसी लिपि में लिखी हुई होने पर भी इनकी पुस्तक को हिंदी-साहित्य में स्थान मिला। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यदि भाषा के व्याकरण में भेद नहीं है तो केवल लिपि-भेद अथवा कुछ विदेशी शब्दों के आ जाने से वह दूसरी भाषा नहीं हो सकती।

(३) लल्लू लाल

इन्होंने जान गिलक्रीस्ट के आदेश से कुछ ब्रज भाषा मिश्रित खड़ी बोली में 'प्रेमसागर' के नाम से भागवत के दशमस्कंध का अनुवाद किया। इन्होंने भूल से उर्दू को कोई दूसरी ही भाषा समझा और बड़ी सावधानी से अपनी भाषा से विदेशी समझे जानेवाले प्रचलित अरबी-फ़ारसी शब्दों को दूर रखा। इसके अतिरिक्त इनकी शैली में कई प्रकार के दोष मिलते हैं, जो इन्शा-अल्ला के ग्रंथ में नहीं हैं। मुहाविरे कहीं ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते। शब्दों और वाक्यों में ऐक्य तथा पारस्परिक संगठन—जिसकी वजह से इन्शा का गद्य 'अरगन बाजे की कसावट रखता है'—लल्लूलाल के गद्य में नहीं है। भाषा की गति शिथिल, मंद है और प्रवाह भी प्रायः असम्बद्ध तथा अस्वाभाविक सा जँचता है। शब्दाडंबर का सभी जगह प्राधान्य सा है। अनुप्रास और तुक के लिये लेखक ने भगीरथ प्रयत्न किया है। इससे यह हुआ है कि इनके गद्य को पढ़ते समय कहीं कहीं प्रायः पद्य

का सा आनंद आता है; परंतु गद्य की दृष्टि से यह दोष है। यद्यपि यह बात अवश्य है कि लल्लूलाल जी का ग्रंथ अनुवाद ग्रंथ है और इसलिये इस ग्रंथ के भाषा की अच्छी बुरी सभी विशेषताएँ कुछ अंश तक मूलग्रंथ ही की विशेषताएँ समझी जा सकती हैं, पर इसके साथ ही यह भी सबको मानना पड़ेगा कि चूँकि लल्लूलाल जी ने एक विशेष प्रकार के गद्य-लेखन की प्रथा चलाने के उद्देश से अपना ग्रंथ लिखा था; इसलिये उनकी भाषा स्वाभाविक न होकर एक प्रकार से बनावटी हो गई है। इनकी शैली की सबसे महत्व-पूर्ण विशेषता है उनका विदेशी शब्दों को न घुसने देने का आसाधारण प्रयत्न। 'जाकर', 'खाकर' इत्यादि के स्थान पर 'जाय', 'खाय'; 'उन्होंने', 'उनको' आदि शब्दों के स्थान पर 'तिन्होंने' और 'तिनको' लिखते हैं। परवर्ती लेखकों ने लल्लू लाल जी की शैली को तो नहीं अपनाया, पर इनके विदेशी शब्दों के वहिष्कार-रूपी सिद्धांत को बहुत लोगों ने अपनाया और गद्य के विकास में इससे बड़ा विघ्न हुआ। आधुनिक गद्य-लेखकों में शुद्धिवादी स्कूल के आदि आचार्य यही लल्लूजी लाल ही कहे जा सकते हैं। आपने "लाल-चद्रिंका" नाम की विहारी सतसई की टीका भी बनाई। यहाँ पर यह कह देना भी आवश्यक है कि "प्रेमसागर" की रचना के पहले के लिखे हुए इनके ग्रंथों की भाषा का रूप उर्दू है, जिससे कि स्पष्ट है कि ये उर्दू-फारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो 'प्रेमसागर' की भाषा में विदेशी शब्दों के वहिष्कार में इन्हें इतनी सफलता न मिलती।

इन्होंने भी कंपनी के आदेशानुसार "नासिकेतोपाख्यान" का हिंदी में अनुवाद किया; पर इनकी भाषा लल्लूजी

(४) सदल मिश्र

लाल की भाषा से कुछ अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित है। विचित्रता यह है कि थे तो ये संस्कृत के अच्छे विद्वान्, पर इन्होंने अपनी गद्य की भाषा से प्रचलित विदेशी शब्दों और मुहाविरों का बहिष्कार करना उचित न समझा और लल्लू जी लाल ने उर्दू-फ़ारसी के विद्वान् होते हुए भी फ़ारसी के घरेलू शब्दों तक को निकाल बाहर करना न जाने क्यों उचित समझा। मिश्र जी के गद्य में शब्दाडंबर और कृत्रिमता भी वैसी नहीं है, जैसी लल्लूजी लाल के गद्य में। शब्दों को बेतरह तोड़ने-मोड़ने का रोग भी इनमें न था। इनकी शैलो सरल तथा पद-योजना का ढंग स्वाभाविक है। शिथिलता भी उतनी नहीं है।

हिंदी गद्य में दोहरे शब्दों में प्रयोग करने की परिपाटी (जैसे—"भीतर-बाहर, नृप के मंदिर में 'उथल-पुथल' हो गया" 'यह बात 'काना-कानी' होने लगी', 'फूलो-फलो', ' बोहार-सोहार ') इन्होंने ही चलाई। इनके मुहाविरेदार गद्य को ध्यान से देखने से इस बात का स्पष्ट पता चल जाता है कि इन्हें इस बात का ज्ञान बराबर बना रहता था कि इनके द्वारा खड़ी बोली की एक गद्य-शैली का निर्माण हो रहा है। इन्होंने ब्रजभाषापन को दूरदर्शिता से पूरी तौर से अपने गद्य से दूर रखा। मालूम होता है कि शायद इन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से यह इतने पहले ही समझ लिया था कि एक दिन वह भी आनेवाला है, जब कि पद्य से भी ब्रजभाषा का बहिष्कार होगा और इसलिये आरंभ ही से हिंदी

की गद्य-शैली को ऐसा रूप देना चाहिए, जिसमें ब्रजभाषा का रंग न्यूनातिन्यून हो; परन्तु इनके आरा प्रांत के निवासी होने के कारण इनकी भाषा में कहीं कहीं पुरबीपन आ गया है; जैसे—'इहाँ' 'मतारी' ' जौन ', 'बाजने लगा' इत्यादि।

गद्य के इस मध्यकाल अथवा द्वितीय उत्थान में बस इन्हीं चार लेखकों का पता चलता है। इन लोगों ने हिंदी गद्य को किसी प्रकार चालू तो कर दिया; पर इनके अस्त होने के साथ ही गाड़ी एक बार फिर रुक जाती है, करीब ५० वर्ष के लिये। इनके पीछे फिर "सन् ५७" के बलवे के बाद आधुनिक गद्य की नींव सुदृढ़ रूप से वास्तव में पहले-पहल राजा शिवप्रसाद, हरिश्चन्द्र तथा राजा लक्ष्मणसिंह आदि के हाथों रखी जाती है; पर इस ५० वर्ष के अवांतर काल में हिंदी के अस्तित्व को लाप होने से बचाने का श्रेय ईसाई धर्म-प्रचारकों को है। इन लोगों ने हिंदुओं में अपने धर्म के प्रचार के निमित्त सरल हिंदी में अपनी धर्म-पुस्तकों के अनुवाद कराए, कई पैंफ्लेट छपा डाले और प्रारंभिक शिक्षा के योग्य कई पाठ्य-पुस्तकें बनाकर प्राथमिक शिक्षा में भी सहायता दी। इन लोगों का उद्देश्य तो धर्मप्रचार ही था, क्योंकि अभी ब्रिटिश राज्य यहाँ पर अच्छी तरह स्थापित भी नहीं हो पाया था कि इन लोगों ने अपना काम छोड़ दिया; पर इनके द्वारा जाने-अनजाने हिंदी का भी कुछ न कुछ उपकार हो ही गया, कम से कम इतना तो अवश्य हुआ कि हिंदी गद्य का जो बीज इन्शाअल्ला आदि के सम्मिलित प्रयत्न से अंकुरित हुआ, उसे इन लोगों ने राजा शिवप्रसाद आदि के आविर्भाव काल तक किसी प्रकार

जीवित रखा। सिरामपुर (बंगाल) के विलियम केरे नामक एक प्रसिद्ध पादड़ी ने सं० १८६६ में New Testament (नव-धर्म-विधान) का हिंदी-अनुवाद निकाला तथा सं० १८७५ तक ईसाइयों के प्रायः सभी धर्म-संबंधी ग्रंथों के हिंदी अनुवाद निकल गए।

इन अनुवादों की भाषा में सबसे मार्के की बात यह है कि इसमें लल्लूलाल और सदल मिश्र ही की भाषा आदर्श मानी गई है और उर्दूपन तथा अरबी-फ़ारसी आदि के शब्दों का यथा संभव बहिष्कार सा प्रतीत होता है तथा उनके स्थान पर ठेठ या ग्रामीण मुहाविरों और शब्दों से काम निकाल लिया है। 'वाले' के स्थान पर 'हारे', 'तक' के स्थान पर 'लौं' तथा लल्लूलाल के 'आय', 'जाय', 'खाय' इत्यादि के स्थान पर 'आके', 'जाके', 'खाके' इत्यादि इनकी भाषा की विशेषतायें हैं।

सन् १८३० ई० के बाद की प्रकाशित पुस्तकों में उर्दूपन भी घुसने लगा। इस समय इन लोगों ने छोटे बच्चों की तालीम के लिये बहुत से मदरसे खोले और उनके लिये बहुत सी पाठ्य पुस्तकें बनीं। इन धर्म-प्रचारकों में 'जान', 'आसी' आदि नामक दो एक हिंदी के कवि भी हो गए हैं, जिनके भजन देशी ईसाई अब भी बड़े प्रेम से गाते हैं।

इन मिशनरियों के कार्य के अतिरिक्त दो एक बातें इसी बीच में और हुईं, जिनका प्रभाव हिंदी गद्य के विकास के ऊपर बहुत अधिक पड़ा। इनमें सबसे मार्के की बात थी, लार्ड मेकाले के परामर्श तथा उद्योग से सर्वसाधारण की शिक्षा का प्रबंध पाश्चात्य ढंग पर अंग्रेज़ी माध्यम द्वारा निश्चित होना। सरकारी सम्मान

तथा नौकरी के इच्छुक अंग्रेज़ी पढ़ने पर और फलतः पाश्चात्य सभ्यता, रहन-सहन आदि सीखने पर विवश हुए। इसका फल यह हुआ कि ५० वर्ष के अंदर इस देश के पठित समाज का दृष्टिकोण ही एक दम बदल गया। पाश्चात्य देश की सभी बातों से, जैसे—भाषा, साहित्य आदि से लोगों का विशेष संबंध स्थापित हुआ। इस संबंध के और फलों से यहाँ कोई मतलब नहीं; पर इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि यह संबंध इस देश के गद्य-साहित्य के विकास में अवश्य सहायक हुआ। लोगों के सामने धीरे-धीरे एडीसन और स्टील के आदर्श निबंध, बेकन के भाव-पूर्ण विचार, ड्राइडेन की प्रौढ़ भाषा के लेख तथा गिबन् आदि के ओजपूर्ण इतिहास आए और धीरे-धीरे इनकी आँखें खुलने लगीं और पहली बार उन्हें यह मालूम होने का अवसर मिला कि गद्य में भी उच्च कोटि का साहित्य-निर्माण संभव है।

दूसरी महत्वपूर्ण घटना हिंदी गद्य के विकास के संबंध में सन् १८५४ की सर चार्ल्स वुड् की शिक्षा के संबंध की योजना (education scheme) का कार्यरूप में परिणत होना था। इसके अनुसार देशी भाषाओं (Vernaculars) में यहाँ के लोगों को शिक्षा देने के लिये गाँवों में स्कूल खोले गए। इसके लिये बहुत सी पाठ्य पुस्तकें आदि बनीं, जिससे हिंदी गद्य के विकास में अवश्य सहायता मिली।

परंतु ऐसे समय में जब कि हिंदी गद्य के विकास का वातावरण बहुत कुछ परिष्कृत हो चुका था और हो रहा था, इसकी उन्नति में सबसे बड़ी बाधा उपस्थित हो रही थी, उस फ़ारसी लिपि

में लिखी जानेवाली हिंदी के प्रचार से, जिसे लोग उर्दू कहते हैं। इस समय तक लल्लूलाल आदि की असावधानी से हिंदी और उर्दू का परस्पर का अंतर इतना बढ़ गया था, जो इसको एक दूसरी भाषा कहलाए जाने के लिये पर्याप्त था। खेद तो इस बात का है कि हिंदी-प्रेमी आज भी इन कारणों पर ध्यान नहीं दे रहे हैं, जिनसे कि उर्दू एक भिन्न भाषा मानी गई और इस व्यर्थ के झगड़े में पड़कर शुद्धि-वादियों ने विदेशी शब्दों को न लेने की क़सम सी खा ली है और केवल मृतभाषा संस्कृत के ज़ोर से हिंदी की उन्नति कर लेना चाहते हैं और इस प्रकार इस अंतर को दिन पर दिन बढ़ाते ही जा रहे हैं।

आधुनिक काल

राजा शिवप्रसाद (१८२३-१८९५ ई०) के रचना-काल से हिंदी का नया युग आरंभ होता है। सबसे प्रथम यही महाशय सोद्योग रूप से हिंदी के प्रचार के लिये यत्नवान् हुए और इसके लिये इन्होंने जो उपाय निकाला था, वह भी इनके समय के आसपास के अन्य हिंदी-हितैषियों के सोचे हुए उपायों से कहीं ज़्यादे ठीक और दूरदर्शितापूर्ण था। ये इस निर्णय पर पहुँचे थे कि फ़ारसी आदि के प्रचलित शब्दों को निकालकर संस्कृत के अप्रचलित दुरूह शब्दों को भरकर एक नई भाषा की सृष्टि करने की अपेक्षा उर्दू लिपि के अभ्यस्त लोगों में हिंदी लिपि का प्रचार कर देना ही अधिक सुगम होगा। अपने 'इतिहास-तिमिर-नाशक' की भूमिका में उन्होंने अपना अभिप्राय स्पष्ट कर दिया है; पर दुर्भाग्यवश उनकी चली नहीं, उनके समसामयिक साहित्य-सेवियों ने उनकी भाषा को नागरी लिपि में लिखी हुई उर्दू कहकर उसका मज़ाक

उड़ाना शुरू किया। इनके बाद ही लक्ष्मणसिंह का रचना-काल आता है। इन्होंने राजा शिवप्रसाद के सिद्धांत का इन शब्दों में विरोध किया—"हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फ़ारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोलचाल की भाषा है। हिंदी में संस्कृत के शब्द बहुत आते हैं और उर्दू में अरबी-फ़ारसी के; किंतु कुछ अवश्य नहीं कि अरबी-फ़ारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं, जिसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द भरे हों।"

इस समय शायद सभो विचारवान् साहित्य-मर्मज्ञ समझते हैं कि उर्दू कोई 'न्यारी बोली' नहीं है और राजा लक्ष्मणसिंह के से विचारवालों की भूल से ही उर्दू हिंदी से न्यारी हो गई है और दिन पर दिन होती जा रही है। इस विचार के लोग उसे हिंदी ही नहीं समझ सकते, जिसमें फ़ारसी के शब्द आवें। उस समय कुछ हवा ऐसी थी कि राजा लक्ष्मणसिंह के सिद्धांत ही के अनुगामी प्रायः सभी परवर्ती लेखक होने लगे। राजा लक्ष्मणसिंह स्वयं एक प्रतिभावान् लेखक थे। उन्होंने अपना काम ब्रजभाषा और ठेठ शब्दों की सहायता से चला लिया और उनके शकुंतला के अनुवाद की भाषा बड़ी मधुर हुई है; परंतु भविष्य में ऐसा होना असंभव था। आगे चलकर विदेशी शब्दों की तरह ठेठ हिंदी के शब्द भी ग्रामीण (coarse expression) कहकर निकाल दिए गए। अब हिंदी के लेखकों के लिये सिवाय इसके और दूसरा उपाय ही क्या रह गया कि आवश्यकतानुसार संस्कृत के तत्सम

शब्दों को हिंदी के शब्द-भंडार में शामिल करते चलें। नागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिंदी में आवश्यकतानुसार अरबी-फ़ारसी के शब्दों को भरकर और सब प्रकार के लेख में इस भाषा का प्रयोगकर हिंदी और उर्दू के कल्पित भेद को दूर कर देने की तरक़ीब केवल राजा शिवप्रसाद ही को सूझी; पर उनको अपना गुरु माननेवाले भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ही ने उनके भाषा-संबंधी सभी सिद्धांतों का विरोध किया और उन्होंने निश्चित रूप से हिंदी भाषा का रुख़ दूसरी ओर मोड़कर उसे शायद सदा के लिये उर्दू से अलग कर दिया और इसका फल यह हुआ कि यह कल्पित भेद ही धीरे-धीरे वास्तविक भेद में परिणत हो गया।

यथार्थ में बात यह थी कि उर्दू के कचहरी और दर्बार इत्यादि में सम्मानित हो जाने की वजह से उसकी लोक-प्रियता इतनी बढ़ गई थी कि हिंदी को कोई पूछता ही न था और हिंदी की यह अवस्था देखकर हरिश्चंद्र आदि हिंदी-हितैषी हिंदी के पुनरुद्धार के लिये इतने व्याकुल हो उठे कि उन्हें शांत-चित्त से यह सोचने का मौक़ा ही न मिला होगा कि क्या उर्दू और हिंदी दो न्यारी न्यारी बोलियाँ हैं अथवा लिपि-भेद से दोनों एक ही भाषा के दो रूप हैं। इस व्याकुलता में कोई नाटक, कोई उपन्यास, कोई निबंध, कोई पाठ्य-पुस्तकें, जो जिसे सूझा, लिखने लगा। भारतेंदु-काल के प्रायः सभी ख़ास ख़ास लेखकों ने हिंदी-सेवा के लिये एक न एक पत्र निकालना शुरू किया और इस प्रकार उर्दू भाषा तथा लिपि दोनों के विरुद्ध एक 'ज़बरदस्त आन्दोलन' शुरू हुआ। यहाँ तक कि फ़ारसी लिपि में जो कभी कभी कुछ का

कुछ पढ़ लिया जाता है और उससे कभी कभी अनर्थ हो जाया करते हैं, इसी को लेकर लोगों ने नाटक लिख डाले और हालत देखकर मुसलमानों ने भी उर्दू को सचमुच अपनी ख़ास ज़बान बनाने का मौक़ा देखा और उसमें अधिक से अधिक संख्या में अरबी और फ़ारसी शब्दों को भरने लगे। इसके व्याकरण में भी कुछ फ़ारसीपन, जैसे—संज्ञा शब्दों के बहुवचन आदि फ़ारसी ढंग पर बनाना, घुसने लगा।

इन सब बातों का फल यह हुआ कि हरिश्चंद्र के बाद के कुछ लेखकों ने हिंदी को धीरे धीरे बहुत ही संस्कृत-पूर्ण बना डाला। स्वयं हरिश्चद्र की भाषा में तो दुरूहता कहीं नहीं आने पाई है। इनका उद्देश्य यह नहीं था कि हिंदी को कठिन संस्कृत शब्दों से भरकर उसे एक साहित्यिक रूप दें। उनका मुख्य उद्देश्य था, जनसमुदाय का ध्यान रोचक नाटकों के प्रचार तथा अभिनय के द्वारा हिंदी-साहित्य के प्रति फिर से प्रेम तथा रुचि उत्पन्न करना और यह उद्देश्य उनका बहुत कुछ सफल भी हुआ। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये उन्हें एक ऐसी भाषा-शैली की आवश्यकता थी, जिसे अधिक से अधिक संख्या में लोग समझ सकें। यह फ़ारसी आदि विदेशी शब्दों के स्थान पर ब्रजभाषा से काम लेते थे। ब्रजभाषा के सहज कवि तो ये थे ही, अतः स्वभाव ही से इनके वश में एक मधुर भाषा-शैली थी; परंतु इनका गद्य वहीं अच्छा हुआ है, जहाँ जहाँ वह नाटकों की कविता के साथ साथ आया है। जहाँ इन्हें कविता का सहारा नहीं रहा है, वहाँ इनका गद्य दुरूह और नीरस सा हो

है, जैसे—इनके "वैष्णव सर्वस्व" और 'नाटक' शीर्षक लेख
हिंदी-प्रचार के अतिरिक्त इनके दो मुख्य उद्देश्य और थे—
सेवा और समाज-सुधार। इन्हें देश की पराधीन और दरिद्रा-
ा से बड़ा दुःख था और मृतप्राय हिंदू-जनता के कानों में
यता और स्वतंत्रता आदि के पहले मंत्र फूँकनेवाले यही
ााय थे। 'भारत-दुर्दशा' आदि इनके कुछ नाटक इन्हीं
ों से परिपूर्ण हैं। स्त्रियों की शोचनीय अवस्था को
र भी इन्होंने 'नील देवी' नाम की एक छोटी सी; पर कला
दृष्टि से शायद सबसे अच्छी नाटिका लिखी।

हरिश्चंद्र के द्वारा गद्य के विकास में कई प्रकार से सहायता
ी। सबसे मुख्य बात यह हुई कि इनके प्रहसनों ने भाषा में
ा तथा व्यंग की नवीन सृष्टि की। उनके संपर्क में आनेवाले
ा से हिंदी-लेखक शीघ्रता-पूर्वक अपने अपने लेखों में हास्य
व्यंग की मात्रा बढ़ाने लगे। इन लेखकों में सबसे प्रसिद्ध
ाचरण गोस्वामी, बदरीनारायण चौधरी, श्रीनिवासदास तथा
पनारायण मिश्र हुए। भाषा-शैली में हास्य और व्यंग के
ावेश में देश की तत्कालीन परिस्थिति से विशेष सहायता मिली
। बात यह हुई कि इसी समय से देश में स्वदेश-प्रेम और
मान शासन-प्रणाली से असंतोष होने लगा था; पर इससे
। जब कुछ नहीं हुआ तो लोगों को अधिकारियों का मज़ाक़,
ा तथा गूढ़ कटाक्ष-पूर्ण आक्षेपों द्वारा ही दिल के फफोले
ड़ने ही में एक तरह का मज़ा सा आने लगा। बस हरिश्चंद्र
इसी परिस्थिति से लाभ उठाया। गद्य-शैली में हास्य और व्यंग

की प्रवृत्ति के उत्पन्न होने का आदि कारण हम इसी परिस्थिति को समझ सकते हैं।

इसी प्रकृति को आगे चलकर पत्र-सम्पादकों ने विशेष रूप से अपनाया और सर्वसाधारण में भी यह शैली इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुई कि इस समय हिंदी में कुछ पत्र ऐसे भी निकल रहे हैं, जिसमें इसके (हास्य और व्यंग) सिवाय और कुछ रहता ही नहीं। वे गंभीर से गंभीर बात भी इसी व्यङ्ग शैली ही में कहते हैं। आधुनिक समालोचक भी अधिकतर इसी प्रकृति के भक्त होते हैं। अस्तु......

दूसरी बात तो हिंदी गद्य के लिये एक प्रकार से नई थी। वह है चुभते हुए मुहाविरे तथा भावपूर्ण लोकोक्तियों या कहावतों का भाषा-शैली में उचित प्रयोग; पर हरिश्चंद्र की कहावतें पं० प्रताप नारायण मिश्र की तरह ग्रामीण या भद्दी कभी नहीं होती थी। इनके मुहाविरे सदा परिमार्जित और परिष्कृत रुचि के उद्बोधक थे। अंत में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य जो हरिश्चंद्र जी की लेखनी द्वारा संपादित हुआ, वह यह था कि इन्हीं के थोड़े दिनों की साहित्य-सेवा के फल-स्वरूप हिंदी सदा के लिये अस्थिरता अथवा अनिश्चितता के दलदल से बाहर खींच ली गई और बहुत अंशों तक विविध विषयों में प्रयोग के उपयुक्त उसका एक निश्चित रूप सदा के लिये तैयार हुआ। यह कहने का यह मतलब न लगाना चाहिये कि हरिश्चंद्र ने भाषा का एक स्थायी रूप सदा के लिये स्थिर कर दिया, जिसमें आगे चलकर किसी तरह की रद् बदल न हो सके। हरिश्चंद्र ने भाषा का एक स्थाया मूल

रूप (basis) अवश्य हिंदी संसार के सामने रख दिया, जो कि इस समय नाना प्रकार से विकसित हो रहा है। यह भाषा का मूल रूप वह था, जिसे इस समय मिश्र शैली कह सकते हैं। हरिश्चंद्र के परवर्ती लेखकों की प्रवृत्ति अधिकतर इस मिश्र शैली ही को अपनाने की हुई। पहली प्रवृत्ति राजा शिवप्रसाद की जैसा कि हम पहले देख चुके हैं—प्रवर्त्तित की हुई थी, जिसे परवर्ती हिंदी-लेखकों ने उपेक्षा की दृष्टि से देखा और अंत में वह एक प्रकार से लुप्त ही हो गई—कम से कम साहित्यिक दृष्टि से।

आगे चलकर आर्यसमाजियों के प्रताप से हिंदी-लेखकों में एक और नई प्रवृत्ति दीख पड़ी। आर्यसमाज के उपदेशक बहुधा संस्कृतज्ञ होते थे और अपने व्याख्यानों और पैंफ़्लेटों में संस्कृत-पूर्ण भाषा ही का व्यवहार करते थे। एक तो वे वैसे ही संस्कृत के ज्ञाता होते थे, दूसरे धार्मिक जोश के कारण फ़ारसी, अरबी और ईसाई शब्द इनकी दृष्टि में एक प्रकार से अछूत की तरह थे। मुँह से उनके उच्चारण में भी पाप समझते थे और लिखने की कौन कहे। सारांश यह कि मत-मतांतर-संबंधी इनके आंदोलनों के फल-स्वरूप हिंदी गद्य को एक नई शैली प्रयोग में आई, जिसे हम विशुद्ध शैली (pure style) तथा इसके लेखकों को शुद्धिवादी (purist) कह सकते हैं। ये लोग लक्ष्मणसिंह तथा हरिश्चंद्र आदि से एक क़दम आगे इस मानी में बढ़ गए कि जहाँ इनको हिंदी के अत्यंत प्रचलित तद्भव शब्द मिलते थे, वहाँ भी इन्होंने ज़बरदस्ती संस्कृत के शब्दों को ठूँसकर भाषा को बहुत भद्दी बना दिया—जैसे 'सब' के लिये 'सर्व' 'पुराने' की

जगह 'पुराणों' इत्यादि। इन लोगों की शायद यह धारणा थी कि ऐसा करने से भाषा उच्च या अधिक साहित्यिक या महत्व-पूर्ण हो जाती है। यह प्रवृत्ति, जिसे 'कुप्रवृत्ति' ही कहना चाहिए, कुछ परवर्ती लेखकों में बहुत बढ़ी, जिनमें भीमसेन शर्मा और गोविंद-नारायण मिश्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पं० भीमसेन जी ने तो ग़ज़ब ही कर दिया। क़रीब-क़रीब स्वामी दयानंद ही के टक्कर के धर्म-प्रचारक तो ये थे ही; पर इनके विचार उतने उदार नहीं थे। सांप्रदायिक भावों से भरे रहने के कारण यवन और 'यावनी भाषा' क्योंकि उर्दू को ये यावनी भाषा या म्लेच्छ भाषा समझते थे, दोनों ही के घोर विरोधी थे। अपनी देववाणी नागरी में इन म्लेच्छ शब्दों का दिखाई देना इन्हें असह्य था। ये अपने भाषणों में सर्वत्र इस बात पर अधिक ज़ोर देते थे कि लोग हिंदी में विदेशी शब्द न घुसने दें और उनके स्थान पर संस्कृत शब्दों ही का प्रयोग करें। उनका यह विचार उन्हीं के शब्दों में देखिये :—

"जो जाति स्वतंत्र भाषा का अभिमान रखती हो, उस जाति के लिये अपनी भाषा को खिचड़ी बनाने की शैली कभी उपयुक्त नहीं हो सकती।"

पर अगर बात यहीं तक रहती तो भी ख़ैरियत थी। हमारा विश्वास है कि आज भी बहुत से विद्वान् हिंदी-हितैषी ऐसा ही सोचते हैं; परन्तु उनको चाहिए ज़रा एक बार अंगरेज़ी—जो कि इस समय शायद संसार में सबसे अधिक समुन्नत भाषा है और उसके शब्द-भंडार को ग़ौर से देखें और इस बात का निर्णय

करें कि आज वह खिचड़ी बनकर इस अवस्था को प्राप्त हुई है या उसका निज का मौलिक शब्द-भंडार ही इतना विस्तृत था, जिसके कारण वह सगर्व अपना मस्तक ऊँचा किए हुए है। अंगरेज़ी को लोग परिवर्द्धनशील भाषा (growing language) कहते हैं, यह क्यों ? किसी भी वस्तु की वृद्धि के लिये कुछ वाह्य वस्तुओं या उपकरणों की आवश्यकता होती है। पौधे की वृद्धि के लिये आपको नहर या कुएँ से पानी लाकर डालना पड़ता है, खाद डालनी पड़ती है और जाने दीजिए आप अपने शरीर ही को लीजिए। इसकी वृद्धि के लिये खिचड़ी आदि वाह्य वस्तुओं की आवश्यकता है, फिर लोग भाषा की वृद्धि किस प्रकार उसके मौलिक शब्द-भंडार ही से कर लेने की आशा रखते हैं, यह हमारे समझ में नहीं आता। क्या अंगरेज़ी स्वतंत्र भाषा नहीं है; परंतु इस समय किसी भी 'अप-टु-डेट' अग्रेज़ी 'डिक्शनेरी' में आपको हिंदी के तथा अन्य भाषाओं के अनेक शब्द मिलेंगे। अंगरेज़ों को हिंदुस्तान में जिन नवीन भावों या वस्तुओं या नाम के लिये शब्द अपनी भाषा में नहीं मिले, उन्होंने बेधड़क उनके स्थान पर यहाँ के 'वर्नाक्यूलर' शब्दों को अपने शब्द-भंडार में दाखिल कर लिया। अन्य देश के शब्दों, नामों, वस्तुओं यहाँ तक कि आदमियों तक को अपने में मिला लेने (assimilate) की शक्ति अंगरेज़ों में अद्भुत है, स्तुत्य है और अनुकरणीय है यदि हमें अपनी देश-भाषा को नाश होने से बचाना है। परंतु पं० भीमसेन ने तो उन विदेशी शब्दों को, जो हिंदी में ऐसे मिल गए थे और इतने घरेलू बन गए थे कि उनके किसी प्रकार निकालने की उम्मीद नहीं थी,

आर्यभाषा के रूप में ढालने की एक नई ही शैली निकाली थी। अरबी-फ़ारसी के जिन शब्दों को उन्हें मिलाना होता था, उनके समान या उनसे मिलते-जुलते हुए उच्चारणवाले तथा ऐसे ही कुछ मिलते-जुलते अर्थ रखनेवाले संस्कृत शब्दों या प्रत्ययों को खोज निकालते थे और कुछ थोड़ा सा रूपांतर कर प्रकृत शब्द के स्थान में उसी को बेधड़क प्रयोग कर बैठते थे जैसे—'शिकायत' के स्थान पर 'शिक्षायत्न', 'दुश्मन' को 'दुःशमन'; 'चश्मा' को 'चक्ष्मा' इत्यादि और इसके ऊपर तुर्रा यह कि ऐसे शब्दों की व्युत्पत्ति भी वे संस्कृत व्याकरण की रीति से करने का दम भरते थे। 'साहब' शब्द से मिलता-जुलता कोई शब्द उन्हें नहीं मिला तो उन्होंने उसके इसी रूप को संस्कृत के व्याकरण से सिद्ध कर दिया—जैसे "आहवेन सह वर्तते इति साहवः।" पर ख़ैरियत हुई कि लोगों ने उनकी इस प्रकृति को केवल एक विद्वान् मस्तिष्क की सनक समझा और उनके समकालीन या परवर्ती किसी भी लेखक ने उनकी इस प्रवृत्ति का अनुकरण करना ठीक नहीं समझा, नहीं तो अनर्थ हो चुका था। हाँ, इतना अवश्य हुआ। इन आर्य-समाज और सनातन धर्म के उपदेशकों के प्रभाव से संस्कृत-पूर्ण गद्य में भाषण और लेख दोनों की प्रथा दृढ़ रूप से स्थापित हो गई। इन लोगों को जहाँ कहीं कुछ नए शब्दों की आवश्यकता होती है, वहाँ या तो बने बनाए संस्कृत से लेते हैं और अगर वैसे नहीं मिलते तो संस्कृत के दो या तीन शब्दों को लेकर अर्थ के अनुसार एक नया विचित्र शब्द 'गढ़' डालते हैं। इस संबंध में पं० भीमसेन शर्मा के विचार सुनिये—

"संस्कृत भाषा के अक्षय शब्द-भंडार में शब्दों की न्यूनता नहीं है। हमको चाहिए कि अपनी भाषा की पूर्ति संस्कृत के सहारे से यथोचित करें। जिन लोगों को जिन विशेष प्रचलित अन्य भाषान्तर्गत शब्दों के स्थान में उनसे सर्वथा भिन्न संस्कृत के शब्दों का व्यवहार करने की रुचि नहीं है तो उसी से मिलते हुए संस्कृत शब्दों का वहाँ प्रयोग करना चाहिए।"

इस वक्तव्य में स्पष्ट शब्दों में अभी ऊपर कही हुई "गढ़ंत प्रवृत्ति" तथा संस्कृत-पूर्ण गद्य लिखने का उपदेश नहीं; बल्कि आज्ञा है; क्योंकि धर्म-प्रचारक की हैसियत से उनके उपदेश आज्ञा से कुछ कम नहीं होते थे। सारांश यह कि इन्हीं के समय में संस्कृत-पूर्ण गद्य लिखनेवाला एक ज़बरदस्त दल तैयार हो गया था, जिसमें पं० गोविन्द नारायण का गद्य तो कहीं कहीं कादम्बरी के संस्कृत गद्य से किसी भी मानी में कम नहीं मालूम होता। इनका एक छोटा सा वाक्य देखिये—

"सरद पूनों के समुदित पूरन चन्द की छिटकी जुन्हाई सकल मन भाई के भी मुँह मसि मल, पूजनीय अलौकिक यह नख चन्द्रिका की चमक के आगे तेजहीन मलीन औ कलङ्कित कर दरसाती, लजाती, सरस सुधा धौली अलौकिक सुप्रभा फैलाती अशेष मोह जड़ता प्रगाढ़ तमतोम सटकाती मुकाती निज-भक्तजन-मन-वांछित वरामय मुक्ति-भुक्ति सुचारु चारो मुक्ति लुटाती, सकल कला आलाप कलकलित सुललित सुरीली मीड़ गमक झनकार-सुतार-गर सुरग्राम अभिराम लसित बीन प्रवीन पुस्तका-कलित मखमल से समधिक सुकोमल अति सुन्दर सुविमल

लाल प्रवाल से लाल लाल कर पल्लवल्लव सुहाते, विधि. विद्या विज्ञान सुभ सौरभ सरसाते विकसे फूले सुमन प्रकाश हास बास बसे अनयास सुगन्धित सित बसन लसन सोहा सुप्रभा विकसाती सुविमल मानस विहारी मुक्काहारी, नीर क्षीर विचार सुचतुर कवि कोविद् राज राज हिय-सिंहासन निवासिनी मन्दहासिनी त्रिलोक प्रकासिनी सरस्वती माता के अति दुलारे प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम अनोखी अतुल बलवाली परम प्रभावशाली सुजन मन-मोहनी नवरस भरी सरस सुखद् विचित्र वचन रचना का नाम ही साहित्य है।"

यह वाक्य एक नायाब चीज़ की तरह किसी संग्रहालय या अजायबघर में रखकर लोगों के देखने-दिखाने लायक़ भले ही हो; पर व्यावहारिक दृष्टि से इसका कोई मूल्य नहीं है। गद्य की रचना केवल लंबे लंबे पेचीले मज़मून बाँधने, शब्दाडंबर अथवा वाग्वैचित्र्य अथवा चमक-दमक और अनुप्रासों की अनूठी बहार दिखाने के लिए ही नहीं होनी चाहिए। गद्य की भाषा अपरिमित प्रयोग होनी चाहिए, दूसरे शब्दों में आदर्श गद्य की भाषा ऐसी होनी चाहिए कि उसे सभी विषयों में सफलता-पूर्वक काम में ला सकें, गंभीर से गंभीर विचार, तर्क तथा युक्ति आदि का संनिवेश, जिसमें अल्प से अल्प समय में कर सकें। अंग्रेज़ी का आधुनिक प्रथम श्रेणी का गद्य ऐसा ही होता है। यह समय व्यावहारिकता और विज्ञान का है, किसी को व्यर्थ के वाग्जाल में पड़कर समय गँवाने की फ़ुरसत नहीं है; सब बातों में संक्षेप, थोड़े से बहुत अर्थ निकालना, गागर में सागर भरना आज सब-

से मुख्य वस्तु हो रही है। साहित्य में भी यही बात है। बर्नार्ड शा, गाल्सवर्दी या आस्कर वाइल्ड आदि के गद्य-नाटकों में कथोपकथन की भाषा इतनी संक्षिप्त और भाव-पूर्ण होती है कि पढ़कर कभी कभी दंग रह जाना पड़ता है। न जाने कब हिन्दी गद्य में यह चुस्ती आवेगी।

पं० गोबिन्दनारायण की शैली के अनुकरण का प्रयत्न तो किसी गद्य-लेखक ने नहीं किया; परंतु उन्हीं की तरह संस्कृत-पूर्ण गद्य लिखने की प्रथा चलती गई और आज भी हिंदी के सर्वप्रसिद्ध सुलेखकों में से कुछ इसी शैली के अनुयायी हैं और दूसरों को भी अपने दल में मिला लेने की चेष्टा करते हैं। बाबू श्यामसुंदर दास तथा पं० रामचंद्र शुक्ल का नाम समालोचना और गद्य में बड़े आदर के साथ लिया जाता है; परंतु आप भी संस्कृत शब्दों के बड़े पक्षपाती तथा विदेशी शब्दों और महाविरों के विरोधी मालूम होते हैं—शुक्ल जी के विचार सुनिए—

"किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की संस्कृति परंपरा से होता है; अतः साहित्य की भाषा उस संस्कृत का त्याग करके नहीं चल सकती। भाषा में जो रोचकता या शब्दों में जो सौंदर्य का भाव रहता है, वह देश की प्रकृति के अनुसार होता है। इस प्रकृति के निर्माण में जिस प्रकार देश के प्राकृतिक रूप-रंग, आचार-व्यवहार आदि का योग रहता है, उसी प्रकार परंपरा से चले आते हुए साहित्य का भी। संस्कृत शब्दों के थोड़े-बहुत मेल से भाषा का जो रुचिकर साहित्यिक रूप हजारों वर्ष से

चला आता था, उसके स्थान पर विदेशी रूप-रंग की भाषा गले में उतारना देश की प्रकृति के विरुद्ध था"।

यह विचार उन्होंने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में राजा शिवप्रसाद की भाषा की समालोचना करते समय प्रगट किए हैं। इस उद्धरण को हम भाषा में शुद्धिवाद की व्याख्या के रूप में देखते हैं। हम इस बात को मानते हैं कि राजा शिवप्रसाद की भाषा का झुकाव हिंदी की अपेक्षा उर्दू की ओर अधिक था; पर राजा साहब उर्दू को कोई स्वतंत्र भाषा मानते ही नहीं थे। केवल कुछ फ़ारसी या अरबी आदि के प्रचलित शब्दों को ले लेने ही से साहित्य की संस्कृति–परंपरा में फ़र्क़ नहीं आ सकता जैसा कि शुक्ल जी का अनुमान है और फिर हिंदी का आधुनिक गद्य-साहित्य यों भी संस्कृत के शब्दों को भरने से भी हज़ार कोशिश से भी भविष्य में पुरानी संस्कृति-परंपरा के अनुसार नहीं चल सकेगा। कम से कम हमारा तो यही विश्वास है। हिंदी गद्य पर पाश्चात्य साहित्य तथा सभ्यता का भाव इतना अधिक पड़ा है, पड़ रहा है और न जाने कब तक इसी प्रकार पड़ता जायगा कि कोई भी भाषा-साहित्य के इतिहास का मर्मज्ञ इस बात के मानने में न हिचकेगा कि आधुनिक हिंदी गद्य का संबंध पाश्चात्य शिक्षा से अधिक है और यहाँ की पुरानी संस्कृति परंपरा से कम। हिंदी में आजकल के सबसे अच्छे समझे जानेवाले- उपन्यास, नाटक, गल्प, निबंध तथा समालोचनात्मक लेख आदि किस आदर्श का पालन करते हैं तथा किस ढंग पर लिखे जाते हैं, पाश्चात्य ढंग पर अथवा यहाँ की सस्कृति परंपरा के अनुसार ?

उत्तर स्पष्ट है। उर्दू से तो केवल शब्द-भंडार तथा महाविरों के घुसने ही से शुक्ल जी को संस्कृति-परंपरा छिन्न-भिन्न होती दीख पड़ी, पर यहाँ तो पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से गद्य-साहित्य का सारा वातावरण ही बदल गया है। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि गद्य साहित्य की केवल भाषा ही भर हिंदी कही जा सकती है, भाव प्रायः सब प्रकार के कुछ साधारण परिवर्तन के साथ पाश्चात्य भावों की छाया मात्र हैं। इस स्थिति का कारण मैं बताता हूँ। पहले जिस प्रकार उर्दू के सर्वत्र अत्यधिक रूप से प्रचलित और सम्मानित होने के कारण हिंदी-प्रेमी भी उर्दू पढ़ने पर विवश हुए थे, उसी प्रकार लोग अंग्रेजों के राज्य में अंग्रेजी सीखने पर विवश हो रहे हैं। आज जो शख्स अंग्रेजी नहीं जानता, उसके लिये किसी सरकारी दफ़्तर में या शिक्षा आदि किसी भी सार्वजनिक विभाग में या अदालती कार्रवाइयों में किसी प्रकार का भाग लेना असंभव है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। अंग्रेज लोग इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि किसी विजित देश की सहानुभूति विजेता देश के साथ चिरकाल तक बनाए रखने के लिये इस देशवासियों का ध्यान तथा प्रेम अपने देश के साहित्य, सभ्यता और धर्म से हटाकर विजेता देश के साहित्य और धर्म के साथ स्थापित कर देने से बढ़कर और कोई दूसरा सुगम उपाय नहीं हो सकता। इस देश में पैर जमते ही उन्होंने इस सिद्धांत के अनुसार कार्य करना आरंभ कर दिया। परिस्थिति ही कुछ ऐसी पड़ गई कि हिंदी के गद्य-साहित्य का आरंभ और ब्रिटिश शासन का आरंभ लगभग एक ही साथ हुआ। इधर इस ऊपर कहे हुए

सिद्धांत के अनुसार उन्होंने शीघ्रातिशीघ्र अपना कार्य आरम्भ कर देने में ज़रा भी देर नहीं की। मिशनरियों ने अपना काम इन्शा अल्ला आदि के रचना-काल के थोड़े ही देर बाद से आरंभ कर दिया; पर भाग्य-वश पश्चिम में आर्यसमाज और पूरब में ब्रह्म समाज के प्रताप से मिशनरियों का उद्योग उतना सफल नहीं हुआ, जितना कि आशा की जाती थी; परन्तु शिक्षा-विधान पाश्चात्य ढंग का हो जाने से इतना अवश्य हुआ कि लोगों का ध्यान पाश्चात्य-साहित्य, सभ्यता तथा रहन-सहन की ओर बड़े वेग से आकर्षित हुआ। उच्च कोटि की अंग्रेज़ी शिक्षा पाए हुए लोगों का सब काम धीरे धीरे अंग्रेज़ी ढंग ही से होने लगा। इन लोगों में से अधिकतर यह नहीं जानते कि इनके अपने संस्कृत या हिंदी-साहित्य में भी कुछ है या नहीं और जो लोग इधर कुछ ध्यान देने की कृपा करते भी हैं, वे अपने साहित्य को ही सात समुद्र पार रहनेवालों के दृष्टिकोण से देखते हैं। सबसे मुख्य बात यह हो जाती है कि वे अंग्रेज़ी ही में सोचते हैं। उनका सारा अंतर्जगत एक प्रकार से अंग्रेज़ीमय हो जाता है। पत्र-व्यवहारादिक सब काम आपस में वे अधिकतर अंग्रेज़ी ही में करना विशेष सुविधाजनक समझते हैं। बातचीत का यह हाल है कि मामूली बातचीत चाहे हिंदी में कर भी लें; पर जब गंभीरता-पूर्वक या क़ायदे की कोई बात किसी से कहनी होती है या बहस या झगड़े आदि के समय बिना अंग्रेज़ी का सहारा लिये उनका काम नहीं चलता। ऐसे ही लोग इधर विशेषतः १९१५ ई० के बाद से हिंदी गद्य के लेखक हो रहे हैं। हमारी धारणा यह है कि ये

लेखक पहले अपने विचारों को अंग्रेज़ी ही में बिठा लेते होंगे। अपने वक्तव्य को योजना मन ही मन पहले अंग्रेज़ी ही में तैयार कर लेते होंगे और तब उसी को हिंदी में रूपांतर करके रख देते होंगे। अगर ऐसा न होता तो कोई वजह नहीं आजकल की अधिकांश पुस्तकों को पढ़ते समय बहुत से शब्द, मुहाविरे तथा वाक्य तक अंग्रेज़ी के ज्यों के त्यों अनुवाद से मालूम होते हैं। उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। हिंदी गद्य में यह दोष प्राय: सर्वत्र मिलता है।

यह सब कहने का तात्पर्य हमारा यह है कि इस प्रकार की परिस्थितियों में जैसा आधुनिक गद्य-साहित्य तैयार हो रहा है, वह क्या देश की संस्कृति परंपरा के अनुकूल है ? कदापि नहीं; पर साथ ही इसके हम भी कहने का साहस कर सकते हैं कि इससे घबराने की उतनी आवश्यकता नहीं है। हमारी सभ्यता इतनी पुरानी है कि इस बात का कोई भय नहीं है कि हम किसी विदेशी भाषा या मजहब को स्वीकार कर अपना अस्तित्व ही दूसरों में मिला देंगे; क्योंकि ऐसा अगर होना होता तो अब तक कब ही हो गया होता। किसी के साहित्य में अगर कोई बात नई और उत्तम है तो उसे अपना लेने में या अनुकरण करने में हमें कोई हानि ही नहीं बल्कि अपनी भाषा और साहित्य को संसार की श्रेष्ठ भाषाओं और उनके साहित्य के साथ साथ क़दम रखने लायक़ बनाने के लिए बहुत जरूरी समझना चाहिए।

गद्य-साहित्य का विकास

सन् १८०३ ई० के पहले जो गद्य मिलता है, वह नहीं ही के बराबर है और जो कुछ है भी, वह अजायबघर में रखने के लायक़ है, साहित्य में स्थान पाने योग्य नहीं। फिर भी सूक्ष्म रूप से उसका दिग्दर्शन कर लेना चाहिये।

गुरु गोरखनाथ नाम के एक योगी के नाम से हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि सम्बन्धी बहुत से ग्रन्थ मिलते हैं। इनका समय सन् १३५० के लगभग माना जाता है। इन ग्रन्थों में से कुछ तो उनके शिष्यों द्वारा लिखे गये हैं, जैसे—गोरख-गणेश-गोष्ठी, महादेव-गोरख-संवाद, गोरखनाथ जी की सत्रह कला; पर कुछ ग्रन्थ उनके अपने लिखे हुए से मालूम होते हैं, जैसे—ज्ञान-सिद्धान्तयोग, गोरखनाथ के पद, गोरखनाथ की बानी आदि। यह निर्णय केवल अनुमान पर निर्भर है, निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों का अनुमान है कि गोरखनाथ का समय १४ वीं शताब्दी से पहले का है और कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो गुरु गोरख को केवल पौराणिक पुरुष ही (Myth) मानते हैं और उनके नाम से प्रचलित ग्रन्थों को केवल गोरख सम्प्रदाय के योगियों का रचा हुआ बतलाते हैं; पर यह धारणा युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होती। 'मिथ' का अस्तित्व भी योंही नहीं हुआ करता, किसी

व्यक्ति विशेष का आड़ लेकर ही उसकी कल्पना की जा सकती है, फिर जब उनके नाम से बहुत ग्रन्थ मिलते हैं तो कोई कारण नहीं कि उनका वास्तविक अस्तित्व ही 'मिथ' कहकर उड़ा दिया जाय।

मिले हुए ग्रन्थ चाहे गोरखनाथ के हों या उनकी शिष्य-परम्परा में से किसी के हों, पर वे हैं १४ वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध के; क्योंकि उनमें से किसी किसी में समय भी दिया हुआ है। भाषा को देखने से ज्ञात होता है कि वह ब्रजभाषा की प्रारम्भिक अवस्था में है, किसी किसी समालोचक का यह कहना कि वे ग्रंथ ब्रजभाषा में इसीलिये लिखे गये कि पहले साहित्य ब्रजभाषा ही में था, यह नितान्त असंगत प्रतीत होता है। हिन्दी भाषा का सबसे पुराना ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो माना जाता है। उसकी भाषा को ब्रजभाषा कौन कहैगा? चन्द के भी पहले दो एक रासो या वीर गाथायें लिखनेवालों का पता चलता है, पर उनकी भाषा अपभ्रंश-मिश्रित राजस्थानी ही है न कि ब्रजभाषा।

अस्तु अब गोरखनाथ की भाषा का नमूना देखिये :—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनंद स्वरूप है सरीर जिनको जिन्हि के नित्य गाए ते सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जुहौं गोरिष सो मछंदर नाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदर नाथ? आत्म जोति निश्चल है अंतहकरन जिनके अरु मूलद्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानैं। स्वामी तुम्ह तो सत गुरु,

अम्ह तो सिष। सबद एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मन न करिबा रोष।"

इस भाषा में व्रजभाषा के कुछ प्राचीन चिन्ह अवश्य विद्यमान हैं। साथ ही अपभ्रंश और प्राकृत के चिन्हों से भी भाषा अभी मुक्त हुई नहीं जान पड़ती। अस्तु किसी प्रकार, उद्धृत अंश को हिंदी गद्य का आदिम नमूना मान लेने में हमें कोई आपत्ति-विशेष नहीं प्रतीत होती।

गोरखनाथ जी के बाद क़रीब डेढ़ दो सौ वर्ष तक किसी गद्य-लेखक का पता नहीं चलता। यह तुलसी और सूर का 'ज़माना' था। वैष्णव संप्रदाय के धार्म्मिक आन्दोलनों का बोल-बाला था। ऐसे समय में नक़्क़ारखाने में तूती की आवाज़ की तरह गद्य की कौन सुनता। वैष्णव संप्रदाय के आचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथजी जी-जान से वैष्णव संप्रदाय के प्रचार में पिल पड़े थे, मुसलमानों के विविध प्रकार के अत्याचारों से पीड़ित हिंदू जन-समुदाय के कानों में प्रेम और भक्ति का मधुर संदेश सुना रहे थे। संत कवियों तथा मत-प्रचारकों के शुष्क संदेश सगुणोपासना-प्रेमी हिंदू जनता को जँचे नहीं। उनके गूढ़ दार्शनिक विचारों में हिंदुओं के प्रेमी हृदय को जमानेवाली कोई वस्तु न थी। एक तरफ़ तलवार और क़ुरान था, दूसरी ओर अलख और निरंजन थे। ऐसे ही समय सूर और तुलसी ने अपूर्व प्रेम-मंत्र फूँका, सब हवा ही बदल गई। तुलसी ने साखी, सबदी और दोहरावालों को अच्छी खरी-खोटी सुनाई। सूर और तुलसी के अस्त हो जाने के बाद वैष्णव

धर्म के प्रचार ने और भी जोर पकड़ा। स्वामी रामानंद और वल्लभाचार्य जी ने सारे भारत में भक्ति और प्रेम का संदेशा पहुँचाया; पर रामानंद जी की शिष्य-परम्परा में कुछ ऐसे बाबा लोग प्रगट हुए, जिन्होंने मूर्ति-पूजा तथा वेद पुराणादिकों को तुच्छ समझा, कर्त्तव्य कर्म को प्रधानता दी और उपासना-विधि (Ritual) का घोर विरोध किया। इन कारणों से हिंदू-समाज को इनके संदेश नीरस तथा वर्णाश्रम धर्म पर कुठाराघात करनेवाले जँचे। इन लोगों ने जिस साहित्य को जनता के सामने रखा, वह भी यथेष्ट रूप से समाहित नहीं हुआ, कारण स्पष्ट है। अब इधर वल्लभाचार्य ने जो कार्य आरंभ किया था, उसे उनके पुत्र स्वामी विट्ठलनाथ जी तथा उनके पौत्र गोकुलनाथ जी ने बहुत-कुछ पूरा किया।

गुसाईं गोकुलनाथ जी

गोकुलनाथ जी ने भी अपने पिता और पितामह की भाँति भारत के कोने कोने में पुष्टिमार्ग का प्रचार तथा और मतों की तुलना में उसे उत्तम तथा सुगम सिद्ध करने की प्राणपण से चेष्टा की और उनको सफलता भी आशातीत मिली। इसका कारण था। उन्होंने सर्वसाधारण में अपने प्रचार के लिये एक अभिनव मार्ग ढूँढ़ निकाला। वह मार्ग था प्रचार के लिये गद्य का आश्रय लेना। इन्होंने अनेक वैष्णवों की वार्त्तायें लिखीं। इनकी भाषा बोल-चाल की व्रजभाषा है। इससे सब लोगों को सहज ही समझ में आ जाती थीं। इन्होंने दो ग्रन्थ तैयार किये—चौरासी

वैष्णवों की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता । भाषा को देखने से ऐसा मालूम होता है कि इस बात का ध्यान प्रधान रूप से रक्खा गया है कि सब लोगों की समझ में आसानी से आ जाय और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये लेखक ने विदेशी भाषाओं से शब्द लेने में संकोच नहीं किया है। व्रजभाषा के अतिरिक्त अरबी, फ़ारसी, गुजराती और मराठी आदि के शब्द यत्र तत्र मिल जाते हैं; पर कुछ लोगों को इन वार्ताओं को स्थायी साहित्य में स्थान देने में इसलिये आपत्ति है कि ये मत-प्रचार की दृष्टि से लिखी गई थीं। लेखक ने न तो 'स्वान्तः सुखाय' कुछ लिखा और न इन्शाअल्ला की भाँति किसी गद्य-शैली को लेखकों के सामने रखने के लिये; पर जो कुछ हो, पहले पहल क़िस्से-कहानी के रूप में लम्बे लम्बे वर्णनात्मक लेख लिखने की परिपाटी इन्होंने ही चलाई। इसके लिये हिन्दी-संसार को इनका कृतज्ञ रहना पड़ेगा और कोई विशेष गुण चाहे न हो, उनकी शैली में सरलता अवश्य है, पर वैयक्तिकता की छाप नहीं है और न हास्य या व्यङ्ग के सहयोग से भाषा को सजीव बनाने ही की चेष्टा की गई है। एक प्रकार की रोचकता उनमें अवश्य पाई जाती है। उनमें उस समय के हर परिस्थितियों में रहनेवालों का जीता-जागता सा चित्र मिलता है। पढ़नेवाले को यात्रा का सा आनन्द मिलता है। सबका निष्कर्ष यही है कि हर एक पात्र, जो पहले अन्य मतावलम्बी रहा है, अन्त में पुष्टि-मार्ग की विचित्रताओं को देखकर स्वयं भी उसी मार्ग का अनुगामी हो जाता है। अन्य मतों की तुलना में वैष्णव मत को श्रेष्ठ सिद्ध करने

के लिये अनेक हास्यास्पद कपोल-कल्पित कथाओं का आविष्कार किया गया है।

अब गोकुलनाथ जी के गद्य के विषय में एक बात और उल्लेख-योग्य कहने को रह गई है। इन्होंने गद्य ब्रजभाषा में लिखा था, पर इनके बाद के लेखकों ने इनका अनुकरण नहीं किया। आज दिन जैसे खड़ी बोली और ब्रजभाषा को लेकर पद्य के विषय में दुर्गति हो रही है, वह गद्य के विषय में न हुई। परवर्त्ती लेखकों ने एक मत से खड़ी बोली ही गद्य के लिये अपनाया, इसे ईश्वर की कृपा ही समझना चाहिये और क्या। इसका एक मात्र कारण यही हो सकता है कि जिस समय गद्य के आदि आचार्य इन्शाअल्ला आदि हिन्दी गद्य की नींव डाल रहे थे, उस समय खड़ी बोली यथेष्ट रूप से शिष्ट लोगों की बोलचाल की भाषा हो चुकी थी और हो रही थी और सर्वत्र यही देखने में आता है कि शिष्टों की साधारण बोलचाल की भाषा ही को गद्य में स्थान मिलता है, पद्य की परम्परागत भाषा चाहे जैसी हो। गोकुलनाथ के गद्य का नमूना—

"नंददास जी तुलसीदास के छोटे भाई हते। सो बिनकूं नाच तमासा देखबे को तथा गान सुनबे को शोक बहुत हतो सो वा देश में सूँ एक संग द्वरका जात हतो। जब बिनने तुलसीदास पूँछी तब 'तुलसीदास जी रामचन्द्र जी के अनन्य भक्त हते। जासूं बिनने द्वरका जायबे की नाहीं कही सो वे मथुरा सीधे गये। सो मथुरा सूधे गये। मथुरा में वा संग कूं बहुत दिन लगे, सो नन्ददास संग कूं छोड़कर चल दीने।"

इस प्रकार के गद्य की उत्तरोत्तर उन्नति यदि होती रहती तो आज एक बड़ी भारी आफ़त खड़ी हो जाती। न जाने क्यों यह भाषा-विप्लव नहीं खड़ा हुआ और गद्य की दो धारायें न होकर खड़ी बोली के रूप में केवल एक ही धारा रह गई। गद्य लिखने की कोई प्रथा तो उस समय थी नहीं; इसलिये ब्रजभाषा गद्य में आगे चलकर कोई स्थान न पा सकी। कुछ टीकाकारों ने ब्रज-भाषा में टीका करने की चेष्टा की थी; परन्तु उनकी भाषा क्या होती थी, एक पहेली होती थी, उसका समझना मूल ग्रन्थ के समझने से अधिक कठिन था। उदाहरण के लिये दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं :—

मूल—राघवसर लाघवगति छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़ि कै गयो॥—केशव

टीका—"सबल कहैं अनेक रंग मिश्रित हैं, अंसु कहैं किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं तिन सहित मानों कलिंदगिरि अंग तं हंस-समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाति विषय एक बचन है, हंसन के सदृश श्वेत छत्र हैं और सूर्यन के सदृश अनेक रंग नग जटित मुकुट हैं।"

यही जानकीप्रसाद जी की रामचन्द्रिका के टीका की भाषा है। इसी ढर्रे की और टीककों की भाषायें हैं। इन्हें पढ़ने पर एक बार हँसी अवश्य आती है।

अंत में सारांश यह कि जिस समय आदि आचार्यों ने पहले पहल खड़ी बोली को गद्य के लिये लेना शुरू किया, उस समय तक गद्य का विकास नहीं हुआ था; इसलिये उसे सबने एक मत से

गद्य के लिये स्वीकार किया, जटमल और बनारसीदास क्रम से 'गोरा बादल की कथा'* तथा 'अर्द्धकथानक' के रचयिता कहे जाते हैं। इनका गद्य बहुत कम परिमाण में मिला है और जो है भी, वह बड़ी असावधानी से लिखा हुआ मालूम होता है, अतः जब तक इनके ग्रन्थ पूरे नहीं मिलते तब तक इनके बारे में कोई साहित्यिक मत स्थिर करना शायद ठोक न हो; पर तो भी इन्होंने इतना तो अवश्य ही किया कि गोकुलनाथ के बाद जब गद्य लिखने की परिपाटी लुप्तप्राय हो रही थी तब इन्होंने कुछ न कुछ लिखकर गद्य को पूर्णतया लोप होने से बचाया। गोकुलनाथ के बाद और इन्शा आदि के पहले कुछ टीकाकारों को छोड़कर शायद ही किसी ने गद्य में कुछ लिखा हो। टीकाकारों में मुख्य ये हैं :—

सुरतिमिश्र
जानकीप्रसाद
किशोरदास

किशोरदास की सन् १६२७ ई० की लिखी हुई 'शृंगार शतक' की टीका का विशेष रूप से उल्लेख करना इस-

---

* 'गोरा बादल की कथा' के संबंध में अभी अभी ज्ञात हुआ है कि यह ग्रंथ पद्य में है और गद्य में केवल उसकी टीका है। खोज करनेवालों ने इसी को वास्तविक ग्रंथ मान लिया था; परंतु जब तक निश्चय रूप से यह बात सिद्ध न हो जाय तब तक कोई नया मत स्थिर करने में कठिनाइयाँ हैं।

लिये आवश्यक प्रतीत होता है कि उसको ध्यान से देखने पर दो एक बातों का निर्णय होता है। इस बात का पता चलता है कि गोकुलनाथ के बाद गद्य शायद कोई लिखता ही न था; क्योंकि बाद के लेखकों में भाषा पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं दीख पड़ता। टीकाकारों की भाषा देखते ही इस बात का पता चल जाता है। दूसरी बात यह कि इनकी भाषा में विदेशी शब्दों का वहिष्कार तथा उनके स्थान पर संस्कृत शब्दों के पसंद करने की प्रथा की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। इसका कारण यह दीख पड़ता है कि गोकुलनाथ जी ने सब प्रकार के बाहरी शब्दों के लेने में जो स्वतन्त्रता दिखाई है, वह शायद परवर्ती लेखकों को अग्राह्य हुई; पर इससे भाषा के विकास में बहुत विलंब हुआ; क्योंकि भाषा में आवश्यकतानुसार प्रचलित बाहरी शब्दों के स्थान दिये बिना लोच नहीं आ सकती और न वह विविध प्रकार के विषयों के लिये उपयोगी ही हो सकती है। आज दिन भी बहुत से बड़े बड़े गद्य-लेखक इसे जानते हुए भी अनजान बने हैं। वे प्रचलित शब्दों (विदेशी) के स्थान पर अप्रचलित संस्कृत शब्दों को क़ब्र से खोदकर रखने में तनिक भी नहीं हिचकते और ऐसा करने ही में साहित्यिक दृष्टि से भाषा का कल्याण समझते हैं। इसे हिंदी का दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। अस्तु यहाँ तक तो हुई पुराने गद्य की आलोचना। अब खड़ीबोली के गद्य-विकास का निरूपण किया जायगा।

किशोरदास के बाद १९ वीं शताब्दी तक हिंदी गद्य में कोई उन्नति नहीं हुई। हो सकता है कि लोगों ने कुछ पुस्तकें लिखी

हों; पर अभी तक एक ग्रंथ का भी पता हम लोगों को नहीं लगा।

यथार्थ में मुंशी सदासुखलाल, सैयद इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल, तथा सदल मिश्र ही ने वर्तमान हिंदी गद्य की वास्तविक नींव डाली। इन चारों महाशयों के लिखने का समय प्रायः सन् १८०३ ई० के आस पास था।

(१) मुंशी सदासुखलाल "निवाज" (१७४६—१८२८) दिल्ली के रहनेवाले थे। "कम्पनी" की आधीनता में चुनार में आप एक अच्छे पद पर थे। ये उर्दू-फ़ारसी के भी अच्छे विद्वान् थे और उक्त भाषाओं में इन्होंने कुछ ग्रंथ भी लिखे हैं; पर हमारा मतलब इनके भागवत के स्वतंत्र अनुवाद "सुख सागर" से है। मुंशी जी ने अपना ग्रंथ अंग्रेजों की प्रेरणा से नहीं लिखा था और न तो उनके सामने कोई ऐसा नमूना था, जिसके आधार पर वे लिखते। उस समय उर्दू का प्रचार बड़े ज़ोर पर था और उर्दू वाले उस समय की बोली जानेवाली हिंदी को 'भाखा' कहते थे, जिसका प्रचार दिन दिन गिरते देख मुंशीजी ने निम्नलिखित शब्दों में खेद प्रगट किया है—

"रस्मो रिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया।" शायद इसी भाव की प्रेरणा से प्रेरित होकर उन्होंने 'सुख सागर' लिखा; क्योंकि इसकी भाषा को देखने से ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने हिंदुओं के बोल-चाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर प्रचलित हो रही थी, उसी का प्रयोग किया। संस्कृत के तत्सम शब्द प्रायः उनकी रचना में स्थान पाते हैं। वे रहनेवाले तो उर्दू के केंद्र-स्थल

दिल्ली के थे; परंतु भाषा उन्होंने वही अपनाई, जो उस समय के हिंदुओं के बोल-चाल की शिष्ट भाषा थी। यह भाषा उस समय के कथा-वाचकों, साधु-संतों और पंडितों के द्वारा उत्तर तथा मध्य भारत में यथेष्ट रूप से प्रचलित हो चुकी थी। इसका नमूना नीचे देखिये—

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चाण्डाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो तुरंत ही ब्राह्मण से चाण्डाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय, उसे कहना चाहिये, कोई बुरा माने या भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतो वृत्ति है, वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हुजिये। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को बहकाइये और फुसलाइये और सत्य छिपाइये, व्यभिचार कीजिये और सुरापान कीजिये और धन-द्रव्य इकठौर कीजिये और मन को, कि तमो वृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिये। तोता है सो नारायण का नाम लेता है; परंतु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

इस अवतरण को ध्यान से देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुंशीजी की भाषा उर्दू से नहीं ली गई, बल्कि उस समय की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा थी, उसी का प्रयोग मुंशीजी ने किया। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना होगा कि पाश्चात्य अंग्रेज़ों की प्रेरणा से भी मुंशी जी ने नहीं लिखा था, उन्होंने जो

कुछ लिखा, स्वतंत्र रूप से लिखा। इस विचार से उनका कार्य अन्य गद्य के आचार्यों की अपेक्षा विशेष श्रेयस्कर समझा जायगा।

(२) सैयद इंशाअल्ला ख़ाँ—इनके पूर्व पुरुष समरकंद के रहनेवाले थे तथा बाद में दिल्ली में आ बसे थे। ये लोग ख़ांदानी हकीम थे और इंशा के पिता मुग़लदर्बार के शाही हकीम थे। मुग़ल साम्राज्य के उजड़ने पर ये मुर्शिदाबाद चले गये थे और वहीं इंशा का जन्म हुआ था। प्रो० आज़ाद का कहना है कि वह होनहार बालक अपने साथ एक विलक्षण तथा कुतूहल-पूर्ण तबीयत लेकर उत्पन्न हुआ था। मुर्शिदाबाद में इंशा की शिक्षा का प्रबंध उत्तम रीति से हुआ था। बचपन ही से वह अपने विचित्र तथा सरल प्रकृति का परिचय दे रहे थे, जिसका विकास बाद में उनकी कविता में हुआ। मुर्शिदाबाद के नवाबों के अधःपतन के बाद उनके पिता फिर दिल्ली गये। वहाँ सिंहासन पर उस समय शाह आलम था, उसने उनका अच्छा सम्मान किया। इंशा इस समय युवावस्था में पदार्पण कर रहे थे। शाह आलम के दर्बार में शायरों की बड़ी क़दर थी, मशायरे होते ही रहते थे। पहले तो इंशा की कविता का यथोचित सम्मान न हो पाया, बूढ़े शायरों ने हँसकर उड़ा दिया; पर धीरे धीरे उन्होंने सबको नीचा दिखाया। यहाँ तक कि 'मीर' और 'सौदा' जैसे उस्तादों के शागिर्दों को भी उनका लोहा मानना पड़ा। इनकी विनोद-पूर्ण प्रकृति के कारण दर्बार में सभी इनको स्नेह की दृष्टि से देखते थे।

कुछ काल के अनंतर शाह आलम के दिन भी बिगड़ने लगे और इच्छा होते हुए भी वह शायरों का यथोचित सम्मान न कर

पाता था। यह अवस्था देखकर धीरे धीरे शायर लोग दिल्ली दर्बार से खिसकने लगे। हमारे ख़ाँ साहब ने भी लखनऊ के दानवीर नवाब आसिफ़उद्दौला का आश्रय लिया। उन दिनों उसके क़द्रदानी को बड़ी शोहरत हो रही थी। धीरे-धीरे वहाँ शायरों का पूरा जमघट हो गया। यहाँ पर वह बहुत दिनों तक आनंद से रहे। कुछ समालोचकों ने भ्रम से यह लिखा है कि नवाब सआदतअली ख़ाँ के समय ख़ाँ साहब लखनऊ दर्बार में गये थे। आसिफ़उद्दौला के दर्बार में ये बहुत दिनों तक रहे; पर अन्त में एक दिल्लगी की बात में नवाब से इनकी अनबन हो गई और उन्होंने दर्बार का आना-जाना बंद कर दिया और उनके शेष दिन बड़े कष्ट में बीते। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनमें आत्माभिमान की मात्रा भी यथेष्ट थी।

इंशा का गद्य :—

हिंदी में ख़ाँ साहब ने 'रानी केतकी की कहानी' नाम की एक ही पुस्तक लिखी। यह पुस्तक यद्यपि पहले पहल फ़ारसी लिपि में ही लिखी गई थी; पर भाषा के ख़याल से इसकी गणना हिंदी साहित्य ही में की जावेगी। इन्होंने किसी तात्कालिक उद्देश्य से प्रेरित होकर इस पुस्तक को नहीं लिखा था और न तो इन्होंने लल्लूलाल तथा सदल मिश्र की तरह किसी मौलिक पुस्तक का आश्रय ही लिया था। इनका ग्रंथ पूर्णतया मौलिक है तथा भाषा सर्वसाधारण के समझने-योग्य हिंदी है। इस दृष्टि से इनकी प्रशंसा और तीनों आचार्यों से अधिक हो तो यह अनुचित न होगा। उन्होंने मुसलमान होते हुए तथा जन्म भर अरबी-फ़ारसी

के वातावरण में रहकर ऐसी सुंदर और महावरेदार हिंदी लिखी कि देखकर आश्चर्य होता है। उनका इस कहानी के लिखने का जो उद्देश्य था सो नीचे दिये हुए उद्धरण से प्रगट हो जायगा।

"डौलडाल एक अनोखी बात का—

एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिंदी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने डाँग, बूढ़े घाग यह खटराग लाये। सिर हिलाकर, मुँह थुथाकर, नाक-भौंहें चढ़ाकर, आँखें फिराकर लगे कहने—यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी हो। बस जितने भले लोग आपस में बोलते-चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न दे, यह नहीं होने का। मैंने उनकी ठंडी साँस का टहोका खाकर झुंझलाकर कहा—मैं कुछ ऐसा बड़बोला नहीं, जो राई को पर्वत कर दिखाऊँ और झूँठ सच बोलकर उँगलियाँ नचाऊँ और बे सिर, बे ठिकाने की उलझी-सुलझी बातें पचाऊँ। जो मुझसे न हो सकता तो यह बात मुँह से क्यों निकालता? जिस ढब से होता इस बखेड़े को टालता। इस कहानी का कहनेवाला आपको जताता और जैसा कुछ उसे लोग पुकारते हैं, कह सुनाता है, दहना हाथ मुँह पर फेरकर आपको जताता हूँ, जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद और लपट-झपट दिखाऊँ, जो

देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल अचपलाहट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय।

टुक घोड़े पर चढ़के अपने आता हूँ मैं।
करतब जो कुछ हैं, कर दिखाता हूँ मैं॥
उस चाहनेवाले ने जो चाहा तो अभी।
कहता जो कुछ हूँ कर दिखाता हूँ मैं॥

अब कान रख के, आँखें मिला के सन्मुख होके टुक इधर देखिये, किस ढब से बढ़ चलता हूँ और अपने फूल की पंखड़ी जैसे होठों से किस किस रूप के फूल उगलता हूँ।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ख़ाँ साहब ने जनता के सामने एक नई प्रकार की शैली (Style) रखने ही के विचार से क़लम उठाई थी। उन्हें अपने पाण्डित्य का अभिमान था। वे अपने लेखन-कौशल से हिन्दी-भाषा-भाषियों को मुग्ध कर देना चाहते थे। उनके पहले जो लोग लिखते थे, वे 'स्वान्तः सुखाय' न लिखते थे। 'कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना' का राग अभी तक अलापा जा रहा था। ईश्वर को छोड़कर मनुष्य के विषय में लिखना सरस्वती का अपना करना समझा जाता था। इन्शा अल्ला ने साहित्य को इस बला से छुटकारा दिलाने की प्रथम चेष्टा की और सफल भी हुए। उनके बाद लोगों में लौकिक विषयों पर लिखने की चाल पड़ गई। उनके लिखने के दो प्रधान उद्देश्य प्रतीत होते हैं, एक ऐसी भाषा का अस्तित्व संभव कर दिखाना, जिसमें (१) विदेशी शब्द (अर्बी, फ़ारसी आदि), (२) गँवारू शब्द (३) तथा भाखापन न हो। पढ़े-लिखे

लोगों की जो बोलचाल की शिष्ट भाषा हो, उसमें लेखक ने अपने अभिप्रायों को प्रगट करने की चेष्टा की है। इस उद्देश्य में यद्यपि पूर्ण सफलता नहीं मिली है तथापि उस समय को ध्यान में रखते हुए यही कहना पड़ेगा कि बहुत कुछ कृतकार्य हुए हैं। इसी प्रकार के उद्देश्य से पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय ने ठेठ हिन्दी में अभी हाल में 'ठेठ हिन्दी का ठाट' तथा 'अधखिला फूल' नाम की दो पुस्तकें लिखी हैं। अपनी भूमिका में उन्होंने ठेठ हिन्दी की परिभाषा की है, जो बहुत कुछ इन्शा अल्ला की परिभाषा से मिलती-जुलती है। वहाँ पर उन्होंने इन्शा के वक्तव्य के अनुसार उनके गद्य की समालोचना करके यह सिद्ध किया है कि खाँ साहब अपने क़ौल को पूरा करने में असमर्थ हुए। कहीं कहीं उर्दू-फ़ारसी की गन्ध आ गई है तो दूसरी जगह भाखापन की। उर्दूवाले 'भाखा' को संस्कृत-मिश्रित हिंदी समझते थे न कि मृतभाषा, जैसा कि बहुत लोगों का ख़्याल है। उपाध्याय जी ने उदाहरणार्थ कुछ संस्कृत के तत्सम शब्द ख़ाँ साहब की कहानी में से ढूँढ़ निकाले हैं। ऊपर जो उद्धरण है, उसी में 'चंचल' शब्द आ गया है। उपाध्याय जी 'चंचल' के स्थान पर 'चुलबुला' लिखते हैं। यह तो हुआ 'भाखापन' के बारे में, अब रहा बाहरी शब्दों के विषय में। इस विषय में स्पष्ट है कि यद्यपि ख़ाँ साहब उर्दू-फ़ारसी शब्दों से बहुत बचे हैं तथापि ढंग बहुत कुछ उर्दू आना है, जैसे—'कहने लगी' के स्थान पर 'लगी कहने' 'एक अनोखी बात का डौल डाल' न लिखकर 'डौल डाल एक अनोखी बात का' और फिर 'आतीं जातीं जो साँसें हैं' न लिखकर 'आँतियाँ जातियाँ जो

साँसें हैं' लिखना। यह कृदन्त पदों में बहुवचनान्त चिन्ह लगाना उर्दूवालों की ख़ासियत थी। ख़ाँ साहब भी इससे बच न सके। हाँ, गँवारू शब्दों का उन्होंने एक प्रकार से बिलकुल वहिष्कार किया है।

दूसरा मुख्य उद्देश्य उनका इन शब्दों से प्रगट होता है :—

"दाहना हाथ मुँह पर फेरकर आपको जताता हूँ जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और कूद-फाँद और लपट-झपट दिखाऊँ, जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल अचपलाहट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय।" × × ×

इससे यह प्रतीत होता है कि जनता के सामने एक विचित्र वस्तु रखकर वे उसे चकित कर देना चाहते थे। यह उद्देश्य उनका हर तरह से सराहनीय है। यह उद्देश्य हर तरह से लौकिक है और उसी उद्देश्य की वृद्धि होने ही का यह फल है कि आज दिन हिन्दी साहित्य के किन्हीं किन्हीं अङ्गों को कुछ पूर्ति हो रही है और इस उद्देश्य के जन्मदाता हैं इन्शाअल्ला ख़ाँ। क्रमशः लोग धार्मिक साहित्य से ध्यान हटाने लगे और मनुष्य के चित्त-विनोद तथा और तरह के फ़ायदों के लिये भी लिखने लगे।

अब दो एक बातें ख़ाँ साहब की शैली के बारे में भी कह देना चाहिये। उनकी विनोदशील तथा सरस प्रकृति का परिचय उनके एक एक वाक्य से मिलता है। पहला ही वाक्य देखिये "सिर झुका-कर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के सामने, जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया, जिसका भेद किसी ने न पाया।"

एक एक शब्द से लेखक की ज़िंदादिली टपकती है, पग पग पर हास्यरस पूर्ण प्रयोग मिलते हैं, ज्यों ज्यों पढ़ते जाइये त्यों त्यों लेखक की वैयक्तिकता साफ़ झलकने लगती है और उत्तरोत्तर उसके बारे में अधिक से अधिकतर जानने की उत्सुकता बढ़ती जाती है। गोकुलनाथ की वार्ताओं की तरह यह नहीं कि ग्रन्थ का ग्रन्थ पढ़ जाइये, लेकिन लेखक के हृदय का पता न चले कि वह कहाँ है और कैसा है। उर्दू-फ़ारसी के शायर होने की वजह से उनकी भाषा में चुस्ती, सरलता, मुहाविरे कूट कूटकर भरे हैं; पर इसके साथ ही गंभीर भावों की भी कमी नहीं है। उन्होंने अपनी उसी चलती हुई भाषा में हृदय के गूढ़तर भावों की व्याख्या की है। हाँ, यह अवश्य है कि शैली में गम्भीरता कम और चुलबुलापन (lightness) ज्यादे है। एक एक अक्षर एक एक शब्द मानो कूद-फाँदकर मटक मटककर आगे बढ़ता है, विचारवान् बूढ़ों की तरह सँभल सँभलकर पग धरना नहीं जानता।

किसी भी भाव को वे सीधी तरह न कहकर घुमा फिराकर एक विचित्र प्रकार से कहेंगे।

दूसरे शब्दों में वे एक वक्रोक्ति-कुशल लेखक कहे जा सकते हैं। रसीली उपमाओं तथा चटपटे रूपकों की भी ख़ासी बहार है! शैथिल्य का लेश मात्र कहीं नहीं दीख पड़ता। प्रो० आज़ाद का कहना है कि 'उनके अल्फ़ाज़ मोती की तरह रेशम पर ढलकते आते हैं।' × × ×

इनके क़लम का बन्दोबस्त आरगन बाजे की कसावट रखता है। उनके निरर्थक शब्द भी एक प्रकार का आनन्द ही देते

हैं। इनकी शैली के इन गुणों को देखते हुए इनकी शैली विचित्र (picturesque) मानी जा सकती है। इनकी शैली का प्रभाव कुछ परवर्ती लेखकों पर पड़ा है, जिनमें पं० प्रतापनारायण मिश्र मुख्य हैं।

(३) लल्लू जी लाल—लल्लू लाल जी आगरे के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इनका जन्म सन् १७६३ में और मृत्यु सन् १८२५ में हुई। ये संस्कृत के विद्वान् तो न थे; पर उर्दू-फ़ारसी अवश्य जानते थे और ब्रजभाषा में तो वे पले ही थे। सन् १८०३ में अध्यक्ष जान गिल क्राइस्ट के आदेश से कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कालेज में इन्होंने भागवत दशम स्कन्ध का अनुवाद किया और उसका नाम 'प्रेमसागर' रखा। यह पुस्तक ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ी बोली में है और उर्दू-फ़ारसी आदि विदेशी शब्दों को इन्होंने बड़ी सावधानी से दूर रखा है। इससे लाभ न होकर हानि ही अधिक हुई है। मुहाविरे ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलते। शब्दों और वाक्यों में वह ऐक्य और पारस्परिक संगठन नहीं है। भाषा की गति शिथिल तथा मंद प्रतीत होती है। भावों का प्रवाह प्रायः असम्बद्ध तथा अस्वाभाविक सा जँचता है। शब्दाडम्बर की अनावश्यक धूम रक्खी गई है। यह अवश्य है कि इनका ग्रन्थ केवल अनुवाद मात्र है और इससे उनकी भाषा की अच्छी-बुरी सभी विशेषतायें भागवत की भाषा की छाया मात्र हैं, पर यह भी निश्चय रूप से मानना पड़ेगा कि चूँकि लल्लू लाल जी ने अनुवाद करते समय एक ख़ास तरह के गद्य के लिखने की प्रथा चलाने के उद्देश्य से अपना ग्रन्थ लिखा था; इसलिये उनकी भाषा स्वाभाविक न होकर एक प्रकार से बनावटी हो गई है।

सबसे प्रधान विशेषता इनके गद्य में यह है कि उसके पढ़ते समय पाठक को बहुत-कुछ पद्य का सा आनन्द आता है। शब्दों तथा वाक्यों में अनुप्रास और तुक-साम्यता इतनी अधिक है कि सारा प्रेमसागर वस्तुतः पद्यमय हो गया है। एक उदाहरण देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी :—

वर्षा-शरद-ऋतु-वर्णन

"श्री शुकदेव मुनि बोले कि महाराज! ग्रीष्म की अति अनीति देख नृप-पावस प्रचण्ड पशु, पत्ती, जीव-जन्तुओं की दशा विचार चारों ओर से दल-बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तो धौंसा बाजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आई थीं सोई शूरवीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमकती थी, बगपाँत ठौर ठौर ध्वजा सी फहराय रही थीं; दादुर, मोर कड़खेतों की सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी बड़ी बूँदों की झड़ी बाणों की सी झड़ी लगी थी। इस धूम-धाम से पावस को आते देख, ग्रीष्म खेत छोड़ अपना जी ले भागा तब मेघ पिया ने वर्षाकर पृथ्वी को सुख दिया। उसने जो आठ महीने पति के वियोग में योग किया था, तिसका भोग भर लिया। कुछ गिर शीतल हुए और गर्भ रहा उसमें से अठारह भार पुत्र उपजे, सो भी फल-फूल भेंट ले ले पिया को प्रणाम करने लगे।"

इस गद्य को देखने से ज्ञात होगा कि तुक तथा अनुप्रास लाने के लिये लेखक ने कितना कष्ट उठाया है—जैसे अति अनीति, नृप पावस प्रचण्ड पशु पत्ती, दल बादल ले लड़ने इत्यादि।

अब अन्यत्र तुक-साम्यता देखिये :—

"जिसने अहङ्कार किया सो जगत में आन बहुत न जिया।" "जब शंकर ने उसे ऐसे कहा समझाय, तब बाणासुर ध्वजा ले निज घर चला शिर नाय।"

"आगे जाय ध्वजा मन्दिर पर चढ़ाय।"

"पति बिन कामिनी ऐसी शोभा-हीन है जैसे चन्द बिन यामिनी। इस प्रकार के अनुप्रासों और तुकान्तों से प्रेमसागर भरा पड़ा है। इससे माधुर्य तो एक प्रकार का अवश्य आ गया है और कोमलकान्त पदावली की छटा भी सराहने योग्य हो गई है; पर एक प्रकार का भद्दा बनावटीपन आ गया है, जिसकी वजह से सब मजा किरकिरा हो जाता है। असाधारण चेष्टा, जो उर्दूपन न आने देने के लिये की गई है, उसे देखकर आश्चर्य होता है और साथ ही उनका यह प्रयत्न उपहास-योग्य भी प्रतीत होने लगता है :—'जाकर', 'चढ़ाकर' इत्यादि के स्थान पर जान बूझकर, 'जाय', 'चढ़ाय' लिखा जाता है। इस प्रकार के 'आय' प्रत्ययान्त शब्दों के मारे आफ़त है, जहाँ देखिये तहाँ, 'कहाय', 'लगाय', 'खाय,' 'नाय' बस यही तुक है। भाषा भद्दी हो जाय, ग्रामीण या ब्रज चाहे जैसी हो जाय; पर उर्दूपने की बू न आने पावे। जान-बूझकर 'उन्होंने' के स्थान पर 'विन्होंने', 'उनके' के स्थान पर 'तिनके' लिखा जाता है; पर यह सब होते हुए भी कहीं कहीं एकाध भूला-भटका विदेशी शब्द रही गया है; जैसे—'शिव जी ने एक ध्वजा बाणासुर को देकर कहा इस 'बैरख' को ले जाय'। यह 'बैरख' तुर्क़ी का 'बैरक' है, जिसका अर्थ झंडा

है। वाक्य-विन्यास भी खोजने से एकाध जगह उर्दू का सा मिलता है, जैसे :—

"अति लाड़-प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्राभूषण पहिनाने"। यह 'लगे पहिनाने', 'लगी कहने' आदि के से प्रयोग उर्दूवालों की विशेषतायें हैं। शुद्ध हिंदीवाले उनके स्थान पर 'पहिनाने लगे', 'कहने लगी' लिखेंगे।

इन सब विशेषताओं को देखकर यह निष्कर्ष निकलता है कि लल्लूलाल की भाषा कृष्णोपासक कथावाचकों की सी ब्रज-मिश्रित खड़ी बोली है। लल्लूलाल का प्रेम सागर (गा गाकर) पुराने कथावाचकों के सुनाने लायक़ ग्रंथ हो गया है। मुंशी सदा-सुखलाल ने भी अर्बी-फ़ारसी आदि विदेशी शब्दों का वहिष्कार-कर संस्कृत मिली हुई शिष्ट भाषा में ही 'सुखसागर' लिखा था; पर लल्लूलाल की भाषा में और उनकी भाषा में बड़ा अंतर है। मुंशी जी की भाषा आजकल की परिमार्जित खड़ी बोली से बहुत-कुछ मिलती है। उसमें 'जाय', 'सिर नवाय', 'निरख', 'कीजौ' आदि के से ब्रज के मखनियाँ शब्द नहीं हैं और न तो उनकी भाषा कथावाचकों ही के काम की है। पं० रामचंद्र शुक्ल लल्लूलाल के गद्य की तुलना अकबर के समय के गंग कवि के गद्य से करते हैं। बात ठीक भी है। लल्लूलाल जी ने भाषा के प्रवाह को आगे बढ़ाने के बजाय इसे बहुत पीछे ठेल दिया; पर भाग्यवश उनकी भाषा उन्हीं तक रह गई, बाद में किसी ने उसे नहीं अपनाया। यही सब दोष देखकर ही शायद पं० बाल-कृष्ण भट्ट ने प्रेमसागर की रचना को 'तुच्छ' कह डाला है;

पर यहाँ पर यह अवश्य कह देना पड़ेगा कि पंडित जी बहुत बढ़कर बोल गये हैं। ओज न होने पर भी माधुर्य और प्रसाद-गुण की कमी उनके गद्य में नहीं है। उनकी वर्णन और व्यञ्जना-शक्ति अद्‌भुत है। भाषा का चमत्कार उनके वर्णन में ख़ूब देखने में आता है। उनकी शब्द-संचय-शक्ति का विकास 'उषा के रूप-वर्णन' में बड़ा हृदयग्राही हुआ है। कुछ भी हो, लल्लूलाल ने ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से हिंदी-गद्य को ऐसे साँचे में ढाला कि आगे चलकर वह साधारण विषयों के लिये अनुपयोगी होते हुए भी एक विशेष प्रकार के उपयोग के लिये उपयुक्त समझा गया। उनका गद्य रसपूर्ण, पद्यमय तथा वर्णन-वैचित्र्य से भरा हुआ है। इससे एक प्रकार की नई गद्य-शैली की सृष्टि हुई, जिसे कि आवेगात्मक गद्य-शैली (emotional style) कह सकते हैं। (इस शैली के समर्थकों में आज भी कई लब्धप्रतिष्ठ लेखकों की गिनती हो सकती है।)

प्रेमसागर के पहले चार ग्रंथ और भी इन्होंने लिखे थे, उनके नाम ये हैं:—

(१) सिंहासन बत्तीसी।

(२) बैताल पचीसी।

(३) शकुंतला नाटक।

(४) मेघानल।

इन चारों की भाषा प्रेमसागर की भाषा से बिलकुल भिन्न है। इनकी भाषा एक प्रकार से पूरी तौर से उर्दू है। तीन संग्रह-ग्रंथ इनके और मिलते हैं:—

(१) राजनीति—इसमें हितोपदेश की कहानियों का संग्रह है। इसकी भाषा व्रजभाषा है।

(२) माधव-विलास।

(३) सभा-विलास।

इन दोनों ग्रंथों की भाषा भी व्रजभाषा है।

(४) सदल मिश्र।

पण्डित सदल मिश्र आरा (बिहार) के पास किसी गाँव के रहनेवाले थे। ये लोग खान्दानी पण्डित थे। इनके पिता संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और ये स्वयं भी अच्छे पण्डित थे। ये भी फ़ोर्ट विलियम कालेज में जान गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में काम करते थे और पाठ्य पुस्तक बनाते थे। इन्होंने स्वयं कहा है कि परम प्रतापी श्री "कम्पनी महाराज" का नाम सुनकर वे कलकत्ते गये और 'परम सुजान' गिलक्रीस्ट साहब की आज्ञानुसार दो-चार ग्रन्थ संस्कृत से भाषा में तथा भाषा से संस्कृत में किये; पर इनका एक ही ग्रन्थ संस्कृत से भाषा में किया हुआ 'नासिकेतोपाख्यान' मिलता है। भाषा से संस्कृत में किया हुआ एक भी ग्रन्थ नहीं मिलता।

इनका ग्रन्थ भी लल्लू लाल के ग्रन्थ की भाँति संस्कृत से अनूदित है और इस दृष्टि से इनका कार्य यद्यपि सैयद इन्शा के कार्य से अपेक्षाकृत उतने महत्त्व का नहीं है, पर तो भी इनकी भाषा कई मानी में लल्लूलाल की भाषा से विशेष परिमार्जित है। यह यद्यपि संस्कृत के अच्छे विद्वान थे और लल्लूलाल जी संस्कृत वैसी नहीं जानते थे, पर इन्होंने उर्दू के रंग-ढंग तथा मुहाविरों से

उतना मुँह नहीं मोड़ा है। उर्दू का रंग देने से भाषा में जो चुस्ती और लोच आ जाती है, उसे मिश्र जी ख़ूब समझते थे और जानबूझकर यथास्थान इन्होंने अपनी भाषा में उर्दू का पुट दिया है; जैसे–'लगी कहने', 'छन एक तो मूर्छित रही'। 'और' के स्थान पर वे हमेशा 'वो' लिखते हैं।

लल्लूलाल जी के गद्य में जो शब्दाडंबर है और उसकी वजह से जो एक विशेष प्रकार की कृतिमता आ गई है, उसका मिश्र जी के गद्य में कहीं चिन्ह मात्र भी नहीं है। शब्दों को बेतरह तोड़ना-मरोड़ना भी मिश्र जी की भाषा में नहीं देखने में आता। उनकी (गद्य) शैली सरल तथा पद-योजना का ढंग स्वाभाविक है। उनके मुहाविरों में एक अपूर्व सजीवता और नवीनता है जैसे 'हर्ष से दूने हो', 'लड़कई से आज तक सुग्गा सा पढ़ाया'।

इन्होंने ही शायद पहले पहल दोहरे शब्दों के प्रयोग की प्रथा हिन्दी में डाली; जैसे—'भीतर-बाहर नृप के मन्दिर में उथल-पुथल हो गया', 'यह बात कानाकानी होने लगी', 'फूलो-फलो', 'बोहार-सोहार', 'रोने-कलपने' इत्यादि।

इन सब बातों से इनकी अभिव्यञ्जक शक्ति और भी बढ़ गई है और इनके गद्य की उपयोगिता बोलचाल, सुगम साहित्य तथा और सब साधारण बातों में बढ़ गई है।

असल में बात यह हुई है कि ये यद्यपि यह समझते थे कि उर्दू और हिन्दी का चिरकाल तक एक रहना हिन्दी के अस्तित्व के लोप का कारण होगा; पर अब तक के सहविकास से हिन्दी

ने उर्दू से जो कुछ सीखा था, उसे परित्याग करने में मिश्र जी ने खैर नहीं समझी। इसको उनकी दूरदर्शिता ही समझनी चाहिये। यह सब होते हुए भी उनको इस बात का बराबर ध्यान रहा कि उनके द्वारा स्वतंत्र रीति से हिन्दी की एक गद्य-शैली का रूप बन रहा है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने ब्रजभाषा के 'कबही' और 'भये' शब्द को कभी भी 'कभी' और 'हुए' नहीं लिखा। वे शायद किसी गुप्त शक्ति से इस बात को समझ गये थे कि हिन्दी साहित्य के जीवनकाल में एक समय ऐसा आवेगा, जब गद्य और पद्य की भाषा को एक करने के विषय में छीछालेदर शुरू होगी, यहाँ तक कि पद्य से भी ब्रजभाषा का प्रभुत्व दूर होगा और उसके स्थान पर खड़ीबोली का व्यवहार होगा। नासिकेतोपाख्यान की मुहाविरेदार खड़ीबोली इस कथन का प्रमाण है। यह कहना तो अत्युक्ति होगी कि उनकी भाषा पूरी तौर से आजकल व्यवहार की जानेवाली मिश्रित खड़ी बोली है; क्योंकि उनकी भाषा में ब्रज और पूरबी शब्द भी आते हैं; जैसे—'फूलन्ह के बहुत बिछौने', 'सोनन्ह के थंभ', 'चहुँदिसि', 'सुनि' आदि प्रयोग ब्रज-भाषा के हैं; पर 'इहाँ', 'मतारी', 'बरते थे', 'जुड़ाई', 'बाजने लगा', 'जौन' आदि पूरबी शब्द हैं।

भाषा के नमूने के लिये थोड़ा सा अंश नासिकेतोपाख्यान से नीचे दिया जाता है :—

"इतने में जहाँ से सखी-सहेली और जात-भाइयों की स्त्री सब दौड़ी हुई आईं, समाचार सुन जुड़ाईं, मगन हो हो नाचने, गाने, बजाने लगीं और अगणित रुपया, अन्न, वस्त्र राजा, रानी

ने ब्राह्मणों को बोला बोला दान दिया। आनन्द बधावा बाजने लगा। हर्षित हो नरेश ने वहाँ से सभा में जा ऋषि से कहा कि महाप्रभू आपने मेरा बड़ा कलंक मिटाया है। इस आनन्द का कुछ वारापार नहीं, अब निश्चिन्त हो यहाँ विराजिये, कन्या मँगा आपको मैं दूँगा।

ऐसे कह अमृत पदार्थ भोजन करा अति आदर से मुनि को टिकाया, वो तुरंत सेवकों के सहित पालकी भेज नाती-समेत बेटी को बन से मँगा लिया। गले लगाकर सब रनिवास ने भेंट किया। बालक गोदी में ले मतारी लड़की को घर में बैठा रो रो बन की बात पूछने लगी। भाई, गोतिया, हित, मीत, नगर के लोग देखने आए; भीतर-बाहर नृप के मन्दिर में मारे भीड़ के उथल-पुथल हो गया।"

१८०३-५७ के बीच का गद्य-साहित्य

सन् १८०३ के लगभग हिंदी गद्य की नींव तो पड़ी; पर लगभग पचास या साठ वर्ष के लिये उसकी उन्नति बंद रही। राजा शिवप्रसाद के समय तक इस बीच में कोई गद्य-लेखक ऐसा नहीं मिलता, जिसके किसी एक भी ग्रंथ का पता हम लोगों को लगा हो। यथार्थ में सन् १८५७ के सिपाही-विद्रोह के बाद ही से नियमित रूप से हिंदी गद्य लिखा जाने लगा। अब १८०३ और १८५७ के बीच में जो कुछ हुआ, उसका एक सूक्ष्म दृष्टि से सिंहावलोकन कर लेना चाहिये। इस अवसर में हिंदी गद्य की कुछ सेवा अगर किसी ने की तो ईसाई मिशनरियों ने की। अंग्रेजी राज्य अभी अच्छी तरह से जमने भी नहीं पाया था कि इन लोगों ने अपना काम छेड़ दिया। सबसे पहले इञ्जील (बाईबिल) का हिंदी में अनुवाद किया गया। इन पादड़ियों का उद्देश्य तो सर्वसाधारण में अपने मत का प्रचार करना था, पर अलक्ष्य रूप से उससे हिंदी का कुछ उपकार हो ही गया; कम से कम इतना तो अवश्य हुआ कि हिंदी गद्य का जो बीज इन्शा-अल्ला आदि के द्वारा अंकुरित हुआ था, उसे इन लोगों ने राजा शिवप्रसाद आदि के आविर्भाव काल तक जीवित रक्खा।

सिरामपुर उस समय पादरियों के कार्यक्षेत्र का केंद्र हो रहा था, विलियम केरे नाम के एक पादड़ी उस समय बहुत प्रसिद्ध हो रहे थे। कोई कोई तो यहाँ तक कहते हैं कि इन्हीं केरे साहब ने स्वयं बाईबिल का अनुवाद हिंदी में किया। सन् १८०९ ई० के लगभग केरे साहब ने 'नये धर्म-नियम' (New Testament) का हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया और सन् १८१८ में संपूर्ण ईसाइयों के सब ग्रंथों का हिंदी अनुवाद हुआ।

इन अनुवादों की भाषा के बारे में सबसे बड़ी मार्के की बात यह है कि इन्होंने लल्लूलाल और सदासुखलाल की भाषा ही को आदर्श माना। उर्दूपन और अर्बी-फ़ारसी के शब्दों का यथा-संभव प्रयोग नहीं हुआ है। उस समय जब उर्दू की तूती सभी जगह बोल रही थी, ये विदेशी भी इस बात को भली भाँति समझ गये थे कि यह उर्दू यहाँ की स्वाभाविक भाषा नहीं है। जिस भाषा में साधारण हिंदू जनता अपने कथा-पुराण कहती-सुनती थी, उसी भाषा का प्रयोग इन्होंने उपयोगी समझा। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जिस संस्कृत-मिश्रित भाषा का विरोध करने की प्रथा सी हो गई है, उसी भाषा का अधिकाधिक प्रयोग रहा है और है। ईसाई अनुवादकों ने अपनी भाषा में अर्बी-फ़ारसी के शब्दों के स्थान में हिंदी के ठेठ ग्रामीण शब्दों तक का व्यवहार बेधड़क किया है। जहाँ कहीं कुछ विचित्रता देखने में आती है, वह भाषा की वाक्य-रचना तथा शैली के कारण। 'वाले' के स्थान पर ब्रजभाषा के 'हारे' शब्द का प्रयोग होता है, 'तक' की जगह हमेशा 'लौं' लिखा जाता है, पर ब्रजभाषा का

रंग उतना अधिक नहीं चढ़ाया गया है, जितना कि लल्लूलाल की भाषा में। 'आय', 'जाय', 'समझाय' इत्यादि के स्थान पर बराबर 'आके', 'जाके', 'समझाके' लिखा जाता है। एक नमूना नीचे दिया जाता है :—

"तब यीशु योहन से बपतिस्मा लेने को उसके पास गालील से यर्दन के तीर पर आया; परंतु योहन यह कह के उसे बर्जने लगा कि मुझे आपके हाथ से बपतिस्मा लेना अवश्य है और क्या आप मेरे पास आते हैं। यीशु ने उसको उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे; क्योंकि इस रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिये। यीशु बपतिस्मा लेके तुरंत जल के ऊपर आया और देखो उसके लिये स्वर्ग खुल गया और उसने ईश्वर की आत्मा को कपोत की नाईं उतरते और अपने ऊपर आते देखा और देखो यह आकाशवाणी हुई कि यह मेरा प्रिय पुत्र है, जिससे मैं अति प्रसन्न हूँ।"

इसके बाद ईसाइयों की प्रचार-विषयक पुस्तकें और पत्र नियमित रूप से निकलते रहे; पर बाद की प्रकाशित पुस्तकों में उर्दूपन भी कुछ कुछ अलक्ष्य रूप से घुस पड़ा। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि बिना उर्दू-फ़ारसी के टकसाली प्रयोगों को लाये हुए वे भाषा में चुस्ती नहीं ला सकते थे। सन् १८३६ में छपी 'दाऊद के गीतों' नाम की पुस्तक देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

क़रीब क़रीब इसी समय छोटे बच्चों की शिक्षा के लिये ईसाइयों ने बहुत से मदरसे खोले और स्कूलों में पढ़ाई जाने लायक़

किताबें भी लिखवाना शुरू किया। सन् १८३३ में आगरे में पादरियों की एक 'स्कूल बुक सोसाइटी' स्थापित हुई। इस सोसाइटी ने कुछ उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित कीं। सन् १८३७ में इंगलैण्ड के एक इतिहास का तथा सन् १८३९ में मार्शमैन साहब के 'प्राचीन इतिहास' का अनुवाद 'कथासार' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसके अनुवादक पंडित रतनलाल थे और संपादक पादरी 'मूर' साहब (J. J. Moore) थे। इस पुस्तक की भाषा शुद्ध पण्डिताऊ भाषा है। 'की' की जगह पर 'करी' और 'पाते हैं' के स्थान पर 'पावते हैं' आदि प्रयोग बराबर मिलते हैं। भाषा का नमूना नीचे देखिये:—

"परन्तु सोलन की इन अत्युत्तम व्यवस्थाओं से विरोध-भंजन न हुआ। पक्षपातियों के मन का क्रोध न गया। फिर कुलीनों में उपद्रव मचा और इसलिये प्रजा की सहायता से पिसिस-ट्रेटस नामक पुरुष सबों पर पराक्रमी हुआ। इसने सब उपाधियों को दबाकर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण वह अनाचारी कहाया, तथापि उस काल में दूरदर्शी और बुद्धिमानों में अग्रगण्य था।"

इस सोसाइटी ने दो और उल्लेखनीय पुस्तकें निकलवाईं:—

(१) "भूगोलसार" (१८४०)—पं० ओंकार भट्ट।

(२) "रसायन प्रकाश" (१८४७)—पं० बद्रीलाल शर्म्मा।

कलकत्ते में भी इसी तरह की एक स्कूल बुक सोसाइटी काम कर रही थी, उसने "पदार्थ-विद्या" संबंधी ग्रंथों को प्रकाशित कराने की ओर अधिक ध्यान दिया। एक ग्रंथ "पदार्थ-

विद्यासागर" १८४६ ई० में निकला था। इसी प्रकार कुछ रीडरें भी इन मिशनरियों ने निकाली थीं, जो प्रारंभिक कक्षाओं के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई थीं।

इधर मिर्ज़ापुर में सन् ५७ के ग़दर के कुछ ही पहले एक "आरफ़ेन प्रेस" खुला था, जिसमें शिक्षा-विभाग के योग्य छोटी-मोटी बहुत सी पुस्तकें छपी थीं। इनका संपादन एक 'शेरिंग' (Shering) साहब करते थे। यहाँ की छपी कुछ उल्लेख-योग्य पुस्तकों के नाम यों हैं :—

(१) भूगोल-विद्या।

(२) भू-चरित्र-दर्पण।

(३) विद्यासागर।

(४) मनोरंजक-वृतांत।

(५) जंतु-प्रबंध।

(६) विद्वान-संग्रह।

इन पुस्तकों का प्रकाशन-काल १८५५ से लेकर १८६२ के आस-पास है।

तब से लेकर पादड़ी लोग बराबर हिंदी की कुछ न कुछ सेवा करते आये हैं। दो एक तो इनमें से अच्छे कवि भी हो गये हैं; जैसे—'आसी', 'जान' इत्यादि। इनके भजन देशी ईसाइयों में बहुत प्रचलित हुए और अब तक गाये जाते हैं। कुछ पादड़ियों ने खंडन-मंडन तथा प्रचार-संबंधी उपदेशों से भरे हुए बहुत से पैंफ़लेट निकाले। इन सबों का असल उद्देश्य तो ईसाई मत तथा सभ्यता का प्रचार था; पर इसी बहाने हिंदी का

भी कुछ उपकार हो ही गया; बल्कि यों कहना चाहिये कि कुछ दिनों तक हिंदी-गद्य को लोप होने से बचाने का श्रेय इन्हीं मिशनरियों को ही है।

राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह के कार्य की समालोचना करने के पूर्व दो और बातों का स्मरण करना आवश्यक है। साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि इन लगभग साठ वर्षों के बीच में मिशनरियों के कार्य के सिवाय दो नई घटनायें हिंदुस्तान में ऐसी हुईं, जिनका हिंदी-गद्य पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उनमें पहली घटना यह थी:—

लार्ड मेकाले के परामर्श तथा उद्योग से लार्ड विलियम बेंटिक के काल में देशवासियों की शिक्षा का प्रबंध पाश्चात्य ढंग पर अंग्रेज़ी माध्यम-द्वारा होना निश्चित हुआ। मेकाले की व्यवस्था के अनुसार उपयुक्त पाठ्य पुस्तकें बनीं और लोगों को अंग्रेज़ी पढ़ने का शौक़ हुआ और इससे विशेष बात यह हुई कि अंग्रेज़ी पढ़े लोगों को कंपनी के दफ़्तरों में धड़ाधड़ नौकरियाँ मिलने लगीं। इससे सर्वसाधारण की प्रवृत्ति पाश्चात्य शिक्षा की ओर और भी तीव्र हो गई। इस प्रकार की शिक्षा का फल वही हुआ, जो इस प्रकार की परिस्थितियों में होना स्वभाविक था, अर्थात् लोगों का ध्यान बड़ी तेज़ी से पाश्चात्य सभ्यता तथा रहन-सहन की ओर खिंचा। सभी बातों में अंग्रेज़ों के अनुकरण का नशा चढ़ा। वेश-भूषा, खान-पान, बोल-चाल, यहाँ तक कि नित्य का व्यवहार भी लोग धीरे धीरे अंग्रेज़ों की भाँति करने लगे। इससे यह हुआ कि धीरे धीरे यहाँ के

लोगों में एक खास तरह की व्यवहारिकता आने लगी जो गद्य के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई। यह एक स्वभाव-सिद्ध बात है कि आदमी ज्यों ज्यों अधिक से अधिकतर व्यावहारिक तथा संसारी होता है त्यों त्यों वह कविता अथवा पद्य से दूर हटता जाता है और गद्य के निकट पहुँचता जाता है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारी कम्पनी थी, इसके कर्म्मचारी तथा पृष्ठ-पोषक सब घोर व्यवसायी तथा नीति-कुशल थे। ऐसे लोगों से कविता से क्या सम्बन्ध। इनके रहन-सहन तथा हर बात में एक विचित्र प्रकार की व्यव-हारिकता कूट कूट भरी पड़ी थी। लार्ड मेकाले के प्रयत्न से जब भारतवासियों ने पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली को अपनाया तो उसके साथ ही साथ शायद अदृश्य रूप से उनके नित्य के व्यवहार में भी अंग्रेज़ी व्यवहारिकता घुसने लगी। पाश्चात्य सभ्यता का अन्यतम आदर्श अपने काम से काम तथा स्वार्थ-साधन ही को मोक्ष पद समझना भारतवासियों के सामने आया और सांसारिक दृष्टि से यह सिद्धान्त उन्हें बहुत उपयोगी जँचे। इससे और जो कुछ हुआ उससे यहाँ हमको कुछ मतलब नहीं, पर गद्य-साहित्य की वृद्धि अवश्य इस भीतरी परिवर्त्तन के कारण हुई।

पाश्चात्य साहित्य को इस प्रकार सर्वाङ्ग सुन्दर देखकर भारतवासियों को अपने साहित्य का कमी स्पष्ट दिखाई देने लगी। इनके अपने साहित्य में कविता, सो भी प्रधानतः शृंगार रस की कविता को छोड़कर और कुछ नहीं था। इनके सामने एडीसन और स्टील के आदर्श निबन्ध, बेकन के भाव-पूर्ण विचार,

ड्राइडन की प्रौढ़ भाषा के लेख तथा गिबन् आदि के ओज-पूर्ण इतिहास आये और इनकी आँखें खुलीं और पहली बार इनको मालूम हुआ कि गद्य में उच्च से उच्च कोटि का साहित्य लिखा जा सकता है। उस समय यानी १९ वीं शताब्दी के मध्य-काल तक अंग्रेज़ी साहित्य काफ़ी उन्नति कर चुका था और व्यापक रूप में उन्नति करता जा रहा था और उस समय हिंदी साहित्य के भाग्य-विधाता इस बात का निर्णय कर रहे थे कि क्या साहित्य शृंगार विषय की कविता को छोड़कर, नायिका-भेद के परे और भी कुछ हो सकता है। इस अनुभव से हिंदी के लेखक अवश्य जगे और गद्य की ओर उनका ध्यान वेग से आकर्षित हुआ। अस्तु—

दूसरी मार्के की बात जो हुई सो यह थी कि सन् १८५४ में सर चार्ल्स उड ने विलायत से एक शिक्षा-संबंधी मसविदा (Scheme) तैयार करके भेजी, जिसमें हिंदुस्तान की देशी भाषाओं (Vernaculars) में यहाँ के लोगों को शिक्षा देने के लिये गाँवों में स्कूलों के खोलने की अनुमति दी गई थी। मैकाले ने अगर अङ्गरेज़ी माध्यम-द्वारा उच्च शिक्षा का प्रबंध किया तो उड साहब ने देशी भाषाओं की शिक्षा की नींव डाली, गाँव गाँव में मदरसे तथा स्कूल खुलने लगे। पाठ्य-क्रम तथा करी-कुलम इत्यादि की सृष्टि हुई तथा पाठ्यपुस्तकें बनीं। इनके द्वारा हिंदी गद्य के विकास में बड़ी सहायता मिली। एक तो इस प्रकार कि पाठ्य पुस्तकें आदि विशेषतः गद्य ही में रची जाती हैं, दूसरे यों कि जो लोग यहाँ से शिक्षा पाकर निकले, वे हमारे गद्य-

साहित्य के भावी लेखक थे और बहुत से अपने हृदय में हिंदी-गद्य की सेवा करने की उत्कट अभिलाषा लेकर निकले।

परन्तु हिंदी गद्य के क्षेत्र को विस्तृत करने के लिये इन सब बातों के होते हुए भी उसका एक प्रधान शत्रु था, जो हिंदी गद्य के अस्तित्व ही को हवा में उड़ा देना चाहता था, यह उर्दू था। अदालतों में उर्दू ही का व्यवहार होता था और फ़ारसी लिपि का प्रचार इतना बढ़ा हुआ था कि जो लोग हिंदी लिखने का दुस्साहस करते भी थे, वे भी फ़ारसी लिपि ही का व्यवहार करते थे। प्रेमसागर के ढंग के ग्रंथ लगभग साठ वर्ष तक नहीं बने। इसी बीच में दुर्भाग्य-वश सन् १८३५ ई० में फ़ारसी लिपि के साथ साथ हिंदी जारी हुई। इससे देवनागरी वर्णों पर कुठाराघात सा हुआ। शायद हिंदी को ऐसी ही सङ्कटमय अवस्था में पाकर बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने दुःख से कहा था :—

"जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे, वह फ़ारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिंदी भाषा हिंदी न रहकर उर्दू बन गई। हिंदी उस भाषा का नाम रहा, जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी-अक्षरों में लिखी जाती थी।" यह अवस्था यहाँ तक शोचनीय हो गई कि लोग देवनागरी अक्षर धीरे धीरे भूल से गये। हिंदुओं का साधारण पत्र-व्यवहार भी उर्दू में होने लगा था। इसका प्रधान कारण यह था। लोग खासकर उसी भाषा को अपनाते हैं, जो राजदर्बार में सम्मानित होती है। कचहरियों में जिसमें काम होता है, हाकिम हुक्काम और रईस लोग जिस भाषा का व्यवहार करते हैं, ऐसी भाषा थी उर्दू, जैसे—आजकल

अंग्रेज़ी है, इसोलिये गुप्तजी ने कहा है कि लोग फ़ारसी अक्षर सीखने पर 'विवश' हुए। किसी देश की सभ्यता या साहित्य का लोप पशुबल से उतने सुचारु रूप से नहीं हो सकता, जितना कि विजेता के साहित्य और सभ्यता की चमक-दमक के प्रभाव से। इससे होता यह है कि लोग नये प्रकार के साहित्य की चकाचौंध में आकर अपने साहित्य को भूल जाते हैं और उसे एकदम निम्न श्रेणी का समझने लगते हैं और आज ही कल अनेक उच्च श्रेणी की शिक्षा पाये हुए लोग नहीं जानते कि उनके हिंदी या संस्कृत साहित्य में भी कुछ है। जो लोग कुछ ध्यान देने का कष्ट करते भी हैं, वे भी अपने ही साहित्य को सात समुद्र पार रहनेवालों की आँखों से देखते हैं। उनका सारा काम पत्र-व्यवहार से लेकर अंग्रेज़ी ही में होता है। अपने ही साहित्य पर यदि समालोचनात्मक लेख या पुस्तकें लिखी जाती हैं, वे भी अंग्रेज़ी ही में, मानो इन लोगों के पास अपनी कोई भाषा है ही नहीं। जो लोग हिंदी लिखने का कष्ट उठाते भी हैं, वे अपने विचारों को पहले अंग्रेजी ही में बिठा लेते हैं और फिर उसका अविकल अनुवाद करके रख देते हैं। इसी में उनको सुविधा होती है। कभी कभी वे बड़ी विकट कठिनाई में पड़ जाते हैं, जब किसी भाव को, जिसको कि अंग्रेज़ी में तो वे भली भाँति प्रगट कर सकते हैं, पर हिंदी में लाख कोशिशें करने पर भी उनको उस भाव के प्रगट करने को शब्द नहीं मिलते। ऐसे अवसरों पर वह कोष की शरण लेते हैं और उलटे-सीधे शब्दों को बिठाकर इस प्रकार से रख देते हैं कि उनको देखते ही प्रगट

हो जाता है कि अमुक विचार विदेशी है और अपनी भाषा में उसका भूत खड़ा किया गया है।

इन सब बातों के कहने का तात्पर्य यही है—राज-दर्बार द्वारा सम्मानित भाषाओं से किस प्रकार हिंदी का गला घोंटा गया है और घोंटा जा रहा है। पहले हिंदी की रेढ़ अगर उर्दू ने मारी तो आज भी वही बात अंग्रेज़ी द्वारा हो रही है। स्कूलों और कालेजों में लड़कों से अंग्रेज़ी माध्यम द्वारा ही सब काम कराया जा रहा है। सब प्रकार की पाठ्य पुस्तकें विशेषतया अंग्रेज़ी ही में बनती हैं और परिणाम यह होता है कि लोग अंग्रेज़ी वातावरण से इतना घुल जाते हैं कि किसी दूसरी भाषा में विचार करना भी उनके लिये असंभव हो जाता है। ऐसे लोगों को मौलिक रूप से हिंदी में कुछ लिखने की शक्ति ही नहीं रह जाती, ज्यादा से ज्यादा उनसे अनुवाद हो सकता है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि आज दिन हिंदी साहित्य की उन्नति हो रही है, वे बड़े भ्रम में हैं। हिंदी साहित्य में प्रसिद्ध पाश्चात्य उपन्यासों और कहानियों के अनुवाद या छायानुवाद के अतिरिक्त और क्या हो रहा है। आधुनिक कविता भी पाश्चात्य रंग में रँगी जा रही है। भाव सात समुद्र पार से आ रहे हैं। यदि यही हाल रहा तो कौन कह सकता है कि गुप्तजी के शब्दों में जैसे 'हिंदी भाषा हिंदी न रहकर उर्दू बन गई' वैसे ही दस दिन बाद हिंदी भाषा हिंदी न रहकर अंग्रेज़ी बन जायगी और हिंदी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि का व्यवहार विशेष सुविधाजनक न समझा जायगा। इसका एक मात्र उपाय यही हो सकता है कि स्कूलों

और कालेजों में शिक्षा का माध्यम हिंदी हो। सब प्रकार की पाठ्य पुस्तकें, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान तथा पदार्थ और जल-विद्यायें, तर्क तथा दर्शन-शास्त्र, अर्थ शास्त्र तथा रसायनादि शास्त्रों पर जहाँ तक हो, स्वतंत्र नहीं तो उत्तम अनुवाद ग्रन्थ लिखे जाने चाहिये। समय को देखते हुए उच्च श्रेणी की शिक्षा पाने-वाले को एक यूरोपीय भाषा का जानना बहुत अंशों में सुविधाजनक अवश्य है; परन्तु अपनी भाषा और साहित्य से अच्छी तरह अवगत होने के पश्चात्; परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह यूरोपीय भाषा अंग्रेज़ी हो। अंग्रेज़ी भाषा का जानना ज़रूरी इसलिये हो रहा है कि सब सरकारी दफ़्तरों और कचह-रियों में काम अंग्रेज़ी ही में होता है, क़ानूनी पुस्तकें सब अंग्रेज़ी ही में हैं; अतः जो मनुष्य अंग्रेज़ी नहीं जानता. उसके लिये किसी सरकारी दफ़्तर में या शिक्षा आदि किसी भी विभाग में काम करना या अदालती कार्रवाइयों में किसी प्रकार का भाग लेना असम्भव कर दिया गया है। यदि इन सब विभागों में हिंदी से काम लिया जाता तो हिंदी भाषा और हिंदू जाति दोनों ही का कितना कल्याण होता। राष्ट्र भाषा तो हिंदी को सभी मानते हैं, पर वह केवल पूजने ही भर के लिये।

अस्तु अब इस प्रश्न को कि हिंदी का उद्धार अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ीपने से किस प्रकार हो, हम उस अवस्था में अच्छी तरह समझ सकेंगे, जब हम देख लेंगे कि उर्दू और उर्दूपने से हिंदी का पिंड छुड़ाने के लिये राजा शिवप्रसाद आदि महानुभावों ने किन उपायों से काम लिया था।

बलवे के बाद का हिंदी गद्य

१९ वीं शताब्दी के मध्य तक उर्दू की तूती बोलती रही। ऐसे समय कुछ लोगों को ऐसा प्रतीत हुआ कि उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि से यदि हिंदी की रक्षा न की जायगी तो हिंदी का अस्तित्व ही कुछ दिनों में मिट जायगा। ऐसे लोगों में राजा शिवप्रसाद और लक्ष्मण सिंह का नाम पहले आता है।

राजा शिवप्रसाद (१८२३—१८९५ ई०)

जिस समय में राजा शिवप्रसाद का आविर्भाव हुआ था, उसका निरूपण ऊपर हो चुका है। अब विचार करने की बात यह है कि राजा साहब के भाषा-संबंधी विशेष कर हिंदी भाषा-सम्बन्धी विचार कैसे थे। इस बात को प्रायः सभी साहित्य-मर्मज्ञ समझते होंगे कि प्रायः सभी भाषाओं के गद्य-साहित्य में समय समय पर दो विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों की मुठभेड़ हुआ करती है। एक के प्रेमी यह चाहते हैं कि भाषा का विकास स्वतंत्र रीति से हो। उसको अपने उत्थान के लिये कभी किसी भाषा का मुखापेक्षी न होना चाहिये। दूसरे इस बात का कट्टर विरोध करते हैं। उनका कहना यह है कि कोई भी भाषा अपने आपही में कभी पूर्ण नहीं हो सकती। जो शब्द अन्य भाषाओं से आकर चिर व्यवहार से घरेलू शब्द से बन गये हैं, उनका बहिष्कार करना भाषा

को निर्धन बनाना है। दोनों विचार के लोग हमेशा, प्रायः प्रत्येक भाषा-साहित्य-क्षेत्र में देखने में आते हैं। हिंदी गद्य की विकास-धारा में उपरोक्त दो प्रकार के विचार रखनेवाले आरम्भही से देखने में आ रहे हैं। सबसे पहले लल्लू लाल ही ने हिंदी गद्य में "शुद्धि-वाद" (purism) की नींव डाली, पर उनका विरोध तुरंत उनके जीवन-काल ही में सदल मिश्र ने किया और इस मानी में इन्शा-अल्ला खाँ भी लल्लू लाल के विरोधी कहे जा सकते हैं। लल्लू लाल जी ने उर्दूपने को न घुसने देने के लिये जो भगीरथ परिश्रम किया है, वह कहीं कहीं उपहासास्पद जँचने लगता है और उनकी भाषा इस कारण से उतनी परिमार्जित न हो सकी, जितनी इन्शा-अल्ला और सदल मिश्र की। अब इन आदि आचार्यों के उपरांत प्रायः साठ-पैंसठ वर्ष के बाद राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद और राजा लक्ष्मण सिंह हिंदी-गद्य-क्षेत्र में काम करते दीख पड़ते हैं। इन दोनों महाशयों के भाषा-विषयक विचार भिन्न भिन्न थे। राजा शिवप्रसाद का ध्यान पहले ठेठ हिन्दी ही की ओर था। वे पहले एक प्रकार से शुद्धिवादी ही थे और उनकी भाषा में उर्दू की भरमार उस तरह की न होती थी, जैसी उनकी बाद की पुस्तकों में दिखाई देती है। सन् १८५६ ई० में राजा साहब शिक्षा-विभाग में इन्सपेक्टर के पद पर नियुक्त हुए थे। उस समय और विभागों की भाँति शिक्षा-विभाग में भी मुसलमानों का बहुमत रहा करता था और उन्होंने स्वभावतः शिक्षा-विभाग में हिंदी के आने का बड़ा विरोध किया। उनका कहना यह था कि जब कि अदालतों, दफ़्तरों और प्रायः सभी विभागों में उर्दू ही का व्यवहार होता है

तो एक 'नई' और 'मुश्किल' और 'मज़हबी' ज़बान (हिंदी, जिसको कि मुसलमान लोग "भाखा" कहा करते थे) सीखने के लिये लोग क्यों लाचार किये जायँ। उनमें से अधिकांश लोग विशुद्ध हिंदी को पण्डितों की 'भाखा' या मज़हबी ज़बान, यहाँ तक कि बहुत इसे गँवई की बोली समझते थे। वे बहुत डरते थे कि यदि कहीं दफ़्तरों में हिंदी घुस पड़ी तो उन्हें वह संस्कृत-मिश्रित 'मुश्किल ज़बान' पढ़ने के लिये बाध्य होना पड़ेगा। राजा साहब को इस समस्या का सामना करना पड़ा। उन्हें हिंदी का प्रचार करना था; पर वास्तविक हिंदी जिस रूप में थी, उस रूप में उसका अभ्यास करने से लोग काठिन्य के कारण हिचकते थे; अतः उन्होंने इस प्रकार की ठेठ हिंदी का प्रचार करने का बीड़ा उठाया, जिसमें उन बाहरी शब्दों का बहिष्कार न हो, जो बहुत दिनों से व्यवहृत होने के कारण सर्वसाधारण की ज़बान पर थे। विदेशी होने ही के कारण उनका बहिष्कार करना राजा साहब ने उचित नहीं समझा; क्योंकि प्रचलित शब्दों को हटाकर उनके स्थान पर अप्रचलित अथवा दुरूह संस्कृत अथवा व्रजभाषा शब्दों को ठूँसना राजा साहब के मत से भाषा के विकास-क्षेत्र को संकुचित करना था; अतः राजा साहब ने साहित्य के लिये शुरू में जो पुस्तकें स्वयं लिखीं या औरों से लिखवाईं, उनमें ऐसी ही भाषा का व्यवहार हुआ, जो जहाँ तक संभव था, ठेठ हिन्दी का आश्रय लिये हुए थी और कहीं कहीं अरबी-फ़ारसी के चलते शब्द तथा चुस्त मुहाविरे भी आदर के साथ ले लिये जाते थे; पर स्मरण रहे 'कहीं' 'कहीं', अधिक नहीं।

पाठ्य पुस्तकें लिखने में राजा साहब का हाथ पंडित श्रीलाल और पंडित वंशीधर आदि मित्रों ने भी बँटाया था। राजा साहब ने पाठ्य पुस्तक के उपयोगी जो कहानियाँ लिखीं, उनमें से मुख्य ये हैं:—

(१) राजा भोज का सपना।

(२) वीरसिंह का वृत्तांत।

(३) आलसियों को कोड़ा।

पंडित वंशीधर ने भी राजा साहब ही की प्रेरणा से बलवे के एक साल पहले या पीछे निम्नलिखित पुस्तकें लिखीं :—

(१) भारतवर्षीय इतिहास।

(२) जीविका-परिपाटी (अर्थशास्त्र-विषयक)।

(३) जगत्-वृत्तांत।

इसके कुछ काल अनन्तर राजा साहब ने 'मानव-धर्म-सार' नामक एक धर्म-ग्रंथ लिखा था, इसकी भाषा उन्होंने विशेष प्रौढ़ और संस्कृत-मिश्रित रक्खी है; परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिये कि 'मानव-धर्मसार' की भाषा राजा साहब की मनोनीत भाषा नहीं थी, वे आरम्भ ही से मिश्रित गद्यशैली के पक्षपाती थे और अपने साहित्यिक जीवन के उत्तर काल में तो उनका झुकाव उर्दू की ओर बेतरह बढ़ गया था। यहाँ तक कि उनकी उस भाषा को नागरी लिपि में लिखी हुई उर्दू कहने में भी कोई हर्ज नहीं है। उनके इस भाषा-संबंधी विचार-परिवर्तन के दो कारण माने जाते हैं—एक तो यह कि अधिकांश लोगों के उर्दू-प्रिय होने की वजह से और शुद्ध हिंदी के शब्दों के समझने में

बहुधा लोगों के अशक्त होने के कारण उन्होंने इस प्रकार की ठेठ हिंदी और उर्दू-मिश्रित भाषा का व्यवहार करना समीचीन समझा हो। दूसरा कारण यह बताया जाता है कि अंग्रेज़ अधिकारियों का रुख़ देखकर शायद उन्होंने ऐसा किया। बहुधा लोग द्वितीय कारण ही को विशेष युक्ति-संगत समझते हैं; पर असल बात यह है कि राजा शिवप्रसाद, जहाँ तक इनके ग्रंथों और विचारों से पता चलता है, हिंदी और उर्दू को राजा लक्ष्मण सिंह की तरह दो न्यारी न्यारी भाषायें नहीं समझते थे और जो लोग ऐसा समझते थे, उनको बड़े भ्रम में पड़ा हुआ समझते थे और इस सार्वजनिक भ्रम को दूर करना ही शायद उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन का प्रधान उद्देश्य बनाया था। गवर्नमेंट के बड़े भारी कृपाभिलाषी वे अवश्य थे; पर केवल सरकार को प्रसन्न करने ही के लिये उन्होंने उर्दू-पूर्ण भाषा का प्रयोग करना निश्चय किया हो, ऐसा कहना राजा साहब के प्रति अन्याय करना होगा। उन्होंने अपने 'इतिहास-तिमिर-नाशक' भाग २ की अंग्रेजी भूमिका में भाषा-संबंधी अपनी मिश्रित शैली का स्पष्ट रूप से निरूपण किया है:—

"I may be pardoned for saying a few words here to those who always urge the exclusion of Persian words, even those which have become our house-hold words, from our Hindi books and use in thier stead Sanskrit words, quite out of place and fashion or those course expressions which can be tolerated only among

a rustic population........ Our Court Language in usage is Urdu, and the Court language has always been regarded by all nations as the most fashionable language of the day. If we can not make the Court Character, which is fortunately Persian, universally used to the exclusion of Devanagari, I do not see why we should attempt to create a new language."

इस उद्धरण से यह स्पष्ट प्रगट हो जाता है कि राजा शिवप्रसाद उन शुद्धिवादियों के कट्टर विरोधी थे, जिनको हर वक्त हिंदी को उर्दू-फ़ारसी से मुक्त तथा संस्कृत से पूर्ण रखने की धुन सवार रहती है। जो उर्दू-फ़ारसी के शब्द चिरकाल से हिंदुओं की नित्य की बोल-चाल की भाषा में व्यवहृत होते होते घरेलू शब्द बन गये हैं और उनकी व्यंजक शक्ति बढ़ गई है, उनको हटाकर उनके स्थान पर अबोध संस्कृत के शब्द भरना, राजा साहब के मत में एक नई भाषा के आविष्कार करने के बराबर था; परन्तु इस उद्धरण में एक बात, जो विशेष रूप से खटकती है, वह यह है कि राजा साहब ने ग्रामीण मुहाविरों का प्रयोग केवल इसलिये अवांछनीय समझा है कि वे ग्रामीण हैं। हमारा तो ख़्याल यह है कि आजकल जिस भाषा का प्रयोग हम लोग करते हैं, जिस भाषा में हम लोग लेख लिखते हैं या वक्तृता देते हैं, उसमें कुल जमा तीन-चार सौ से अधिक शब्द नहीं हैं, उन्हीं से हम रोज़ का काम लेते हैं और जहाँ कहीं किसी असाधारण विषय पर कुछ कहना हुआ, वहाँ संस्कृत या अंग्रेज़ी आदि की

सहायता से नये शब्द गढ़ने पड़ते हैं। ग्रामीण भाषा में शब्दों का एक बहुत बड़ा भण्डार पड़ा है, जिसको यदि हम लोग अपनायें तो हमारी भाषा-कोष-सम्बन्धी बड़ी भारी कमी पूरी हो सकती है; पर हम उन्हें केवल इस भय से नहीं अपनाते कि ऐसा करने से भाषा नागरिक न रह सकेगी और उसमें ग्रामीणता दोष आ जायगा। हमारे ख़्याल से इन ग्रामीण कहे जानेवाले अछूत शब्दों को इन्हीं रूप में ले लेना चाहिये। इसी में हिंदी का कल्याण है। स्वर्गीय पं० प्रतापनारायण मिश्र हमें ऐसा करने का मार्ग दिखा गये हैं; परन्तु शोक कि उनके दिखलाये हुए मार्ग का अभी तक किसी ने अनुसरण नहीं किया। यदि राजा साहब के अनुसार ग्रामीण शब्दों या मुहाविरों का प्रयोग अनुचित है तो प्रतापनारायण जी के सब लेखों में दियासलाई लगा देनी चाहिये। अस्तु जो हो, राजा शिवप्रसाद का नाम हिंदी गद्य-साहित्य में दो प्रशंसनीय कार्यों के लिये सदा अमर रहेगा—एक तो यह कि उन्होंने लुप्तप्राय देवनागरी लिपि का फिर से प्रचार किया, दूसरा यह कि इन्होंने हिंदी, उर्दू मिली हुई भाषा का आविष्कार करके आरम्भ से हिंदी को दुरूह होने से बचाया।

ऊपर कह आये हैं कि शुरू में इनकी भाषा प्रायः ठेठ हिंदी सी थी, कहीं कहीं उर्दू-फ़ारसी का पुट भाषा में सजीवता पैदा करने के लिये लाया जाता था। दूसरी प्रकार की शैली, जिसका प्रयोग इन्होंने 'मानव-धर्म-सार' में किया, वह संस्कृत-पूर्ण उच्च श्रेणी की हिंदी थी। यह शुद्धिवादियों की हिंदी कही जा सकती

है। तीसरी प्रकार की शैली, जो इनकी प्रधान शैली मानी जाती है और जिसके कारण ये इतने प्रसिद्ध हो रहे हैं, वह इनकी उर्दू-पूर्ण हिंदी है। इसमें प्रायः संस्कृत और अर्बी-फ़ारसी के शब्द एक पंक्ति में मिलाकर बिठाये हुए देखने में आते हैं, जैसे—'अपने क़िस्म की अद्वितीय', 'पुस्तकें तलाश होने लगीं', 'कविताई को रौनक़ दी' इत्यादि। अब इन तीनों शैलियों का नमूना दिया जाता है:—

(१) इसका उपयोग उनकी शुरू की लिखी हुई कहानियों में हुआ है :—

"वह कौन सा मनुष्य है, जिसने महा प्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत् में व्याप रही है। बड़े बड़े महिपाल तो उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और ख़ज़ाना उसका सोने, चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया।"

—राजा भोज का सपना

(२) संस्कृत-पूर्ण शैली :—

"मनुस्मृति हिन्दुओं का मुख्य धर्म्म-ग्रन्थ है। उसको कोई भी हिंदू अप्रामाणिक नहीं कह सकता। वेद में लिखा है कि जो कुछ मनु जी ने कहा, उसे जीव के लिये औषधि समझना और वृहस्पति लिखते हैं कि धर्म्म शास्त्राचार्यों में मनु जी सबसे प्रधान और अतिमान्य हैं; क्योंकि उन्होंने अपने धर्म शास्त्र में सम्पूर्ण वेदों का

तात्पर्य लिखा है। × × × खेद की बात है कि हमारे देश-वासी हिंदू कहलाके अपने मानव-धर्म-शास्त्र को न जानें और सारे कार्य उसके विरुद्ध करें।"

—मानव-धर्म-सार

(३) उर्दू-पूर्ण हिंदी :—

इस शैली का नमूना उनके चलाये हुए 'बनारस अख़बार' नामक पत्र में तथा 'इतिहास तिमिर-नाशक' और 'भाषा का इतिहास' आदि बाद के लिखे हुए ग्रन्थों में मिलता है :—

"यहाँ जो नया पाठशाला कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है, उसका हाल कई दफ़ा ज़ाहिर हो चुका है। अब वह मकान एक आलीशान बनने का निशान तैयार हर चेहार तरफ़ से हो गया, बल्कि इसके नक़्शे का बयान पहले मुंदर्ज है सो परमेश्वर की दया से साहब बहादुर ने बड़ी तंदेही मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है।"

—बनारस अख़बार

ऊपर दिये हुए उद्धरण से यह मालूम हो जायगा कि राजा साहब अंत में किस प्रकार की भाषा को साधारण व्यवहार के उपयुक्त समझते थे। साहित्य के लिये भी अंत में उन्होंने इसी उर्दू-मिश्रित भाषा का प्रयोग ही उत्तम समझा; क्योंकि उन्होंने अपने सर्वोत्तम ग्रंथ "इतिहास तिमिर-नाशक" और "भाषा का इतिहास" में इसी प्रकार की भाषा का स्वतंत्र उपयोग किया है। 'भाषा के इतिहास' में उन्होंने भाषा-संबंधी विचार निर्भीक रूप

में प्रगट कर दिये हैं। साधारण उपयोग की भाषा कैसी होनी चाहिये, इस विषय पर राजा साहब कहते हैं :—

"हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े, चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिये कि आमफ़हम व खास पसन्द—अर्थात् जिनको ज़ियादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढ़े-लिखे आलिम, फ़ाज़िल, पण्डित, विद्वान् की बोल-चाल में छोड़े नहीं गये हैं और जहाँ तक बन पड़े, हम लोगों को हर्गिज़ ग़ैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिये, जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की ज़रूरत न साबित हो जाय, अर्थात् यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी में नहीं है या जो है, अच्छा नहीं है या कविताई की ज़रूरत या इल्मी ज़रूरत या और कोई खास ज़रूरत न साबित हो जाय।"

—भाषा का इतिहास

यह तो हुआ उनका भाषा-संबंधी सिद्धान्त का प्रतिपादन; पर इस सिद्धांत के अनुसार उनकी भाषा कहाँ तक ठीक जँचती है, इसके बारे में समालोचकों में मत-भेद है। कुछ का कहना यह है कि 'आमफ़हम', 'ख़ास पसंद' ऐसे शब्दों को आलिम, फ़ाज़िल लोग भले ही समझ लें; पर संस्कृत के पंडित विद्वान् उन्हें शायद ही समझ सकें; परंतु हमारी तो धारणा यह है कि इस समय के संस्कृत के विद्वान् भले ही ऐसे शब्दों को न समझें; पर जिस समय राजा साहब ने अपने ग्रंथ लिखे थे, उस समय उर्दू का बोल-बाला था, घर घर उर्दू का प्रचार ज़ोरों से बढ़ा हुआ था। सभी उर्दू में बातचीत करना ही गौरव समझते थे। ऐसे समय के

कोरे संस्कृतज्ञ भी "आम फ़हम" और "ख़ास पसंद" ऐसे शब्दों को समझते रहे हों तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह अवश्य है कि संस्कृत हिंदी की जननी है और ऐसी अवस्था में हिंदी का आवश्यकतानुसार संस्कृत से सहायता न लेकर अन्य विदेशी भाषाओं की मुखापेक्षणी होना कुछ अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है; पर राजा शिवप्रसाद के समय को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि हिंदी के प्रचार तथा उर्दू से उद्धार के लिये जिस नीति का उन्होंने अवलंबन किया, वह कुछ बुरी न थी। उस समय भाषा में शुद्धिवाद का झंडा फहराना एक नई ही भाषा के उत्पन्न करने के बराबर था। उर्दू के चंगुल से हिंदी को धीरे धीरे खींच निकालने ही में हिंदी का कल्याण था। यह अवश्य है कि राजा साहब ज़रा आवश्यकता से अधिक उर्दू की तरफ़ झुके हुए मालूम पड़ते हैं, तो भी उन्होंने लल्लूलाल की ब्रजभाषा के मिठास के बदले में उर्दू की सजीवता लेकर हिंदी-गद्य को एक नई दिशा में मोड़ा। दूसरे शब्दों में उन्होंने हिंदी को एक सुनिश्चित मार्ग पर लाने में सहायता दी। उन्होंने जिस मिश्र गद्य-शैली का जन्म दिया उसके अनुयायी आज के सबसे बड़े गद्य-लेखकों में मिलते हैं। पंडित महाबीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू बालमुकुंद गुप्त तथा पंडित प्रतापनारायण मिश्र आदि के पथप्रदर्शक राजा शिवप्रसाद ही माने जा सकते हैं। द्विवेदी जी ने तो राजा साहब की गिनती 'अवतारी' पुरुषों में की है।

राजा साहब की गद्य-शैली के विषय में दो एक बातों का निरूपण और करना है। यद्यपि उनके गद्य में फ़ारसीपन आवश्यकता से अधिक भर गया है तथापि यह मानना पड़ता

है कि उनकी भाषा में एक विशेष प्रकार का लालित्य है। उस लालित्य का कारण यह है कि राजा साहब जिस विषय को उठाते हैं, उसको रोचक बनाने में कोई क़सर उठा नहीं रखते। किसी एक खास आशय को प्रगट करने के लिये अपना सम्पूर्ण शब्द-भंडार मथ डालते हैं तथा किसी भी आशय को सीधी-सादी तौर पर न कहकर उसे रोचक बनाने के लिये एक विचित्र प्रकार से घुमा फिराकर कहते हैं। इसी वाग्विस्तार (Periphrasis) के गुण के कारण इंशा अल्लाखाँ की तरह राजा साहब का गद्य भी बड़ा चमत्कार-पूर्ण होता है। 'इतिहास तिमिर-नाशक' में 'औरंगज़ेब की फ़ौज का वर्णन' इस रोचकता का एक उत्तम उदाहरण है। (quote).

राजा साहब के गद्य में एक और विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि उनकी भाषा यथार्थ में 'परिष्कृत' (refined) है और उसनें नागरिकता कूट कूटकर भरी पड़ी है। ग्रामीण शब्दों या मुहाविरों से राजा साहब को ख़ास चिढ़ थी। पंडित प्रताप नारायण मिश्र से इस मानी में वे बिलकुल विरुद्ध थे। बाबू बाल-मुकुंद गुप्त के गद्य में जिस प्रकार चोज़, लोकोक्तियाँ, चुटकुले तथा मसख़रापन कूट कूटकर भरा हुआ मिलता है, वह राजा साहब के गद्य में खोजने पर भी नहीं मिलता। हास्य तथा व्यङ्ग की मात्रा, जिससे कि गद्य-व्यंजना-शक्ति बहुत बढ़ जाती है, राजा साहब के गद्य में प्रायः नहीं के बराबर है।

पं० बालकृष्ण भट्ट अथवा पं० महाबीरप्रसाद जी की भाँति भाषा में पांडित्य-प्रदर्शन करना भी राजा साहब की नीति

के विरुद्ध था। स्थूलरूप से राजा साहब अपने गद्य से दो काम लेते थे—मुख्यतः तो वे अपने गद्य से अपने भाषा-संबंधी सिद्धांतों का प्रचार करते थे, अपनी नई गद्य-शैली को पुष्ट करते थे, दूसरे वे अपनी वर्णन-शक्ति की पराकाष्ठा कर दिखाते थे। उनकी वर्णन-शैली जो इतनी शक्ति-संपन्न तथा रोचक हो सकी, इसका प्रधान कारण है उनका उर्दू-फ़ारसी पर अधिकार।

दो एक बातें उनके वाक्य-विन्यास तथा पद-योजना के संबंध में भी कह देना है। राजा साहब के समय में विराम चिह्नों (punctuation) के व्यवहार की प्रथा नहीं चली थी। लोग अंधाधुंध लिखते चले जाते थे, वाक्यों के ओर छोर का पता लगाना मुश्किल था। राजा साहब भी इसी तरह लिखते थे। हो सकता है कि उर्दू-प्रियता के कारण ही उन्होंने ऐसा किया हो; क्योंकि उर्दू में उस समय विराम-चिह्नों में आड़ी लकीरों के सिवाय और कुछ न था। उनका ध्यान केवल भाषा-गद्य की भाषा के ही ओर था। भाषा में भी व्याकरण पर ध्यान वे बहुत कम रखते थे। व्याकरण-संबंधी सब बखेड़ों को उन्होंने परवर्त्ती लेखकों के लिये छोड़ रक्खा; पर व्याकरण शिथिल होने पर भी उनका वाक्य-विन्यास किसी प्रकार से शिथिल न था।

राजा साहब 'निदान' शब्द का प्रयोग बहुत अधिक करते हैं। इसका कारण यह था कि उनके समय में पैराग्राफिंग की प्रथा न थी। एक आशय से दूसरा आशय अलग करने के लिये ही वे इस शब्द का प्रयोग किया करते थे।

राजा लक्ष्मणसिंह

राजा शिवप्रसाद के साथ ही साथ राजा लक्ष्मणसिंह का नाम आता है। हिंदी को आधुनिक रूप देने में राजा लक्ष्मणसिंह का भी बहुत कुछ हाथ रहा है। इनके विषय में सबसे महत्व-पूर्ण जो बात जानने-योग्य है, वह है इनके भाषा-संबंधी विचार, जो कि राजा शिवप्रसाद के विचारों से बिलकुल विरुद्ध थे। राजा शिवप्रसाद के इस विषय के विचारों का पता हमको उनके भाषा के इतिहास से चलता है, जिसका कुछ अंश ऊपर दिया भी जा चुका है। अब राजा लक्ष्मणसिंह के विचारों को देखिये:—

"हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फ़ारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोल-चाल की भाषा है। हिंदी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-फ़ारसी के; किंतु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी-फ़ारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं, जिसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द भरे हों।"

राजा शिवप्रसाद, जहाँ तक उनके विचारों से पता चलता है, उर्दू को कोई 'न्यारी बोली' नहीं समझते थे और यदि समझते भी रहे हों तो हिंदी और उर्दू को एक कर देना चाहते थे अथवा दूसरे शब्दों में हिंदी और उर्दू के भेद को मिटा देना चाहते थे; पर राजा लक्ष्मणसिंह का ध्येय कुछ और ही था। उनका विश्वास यह था कि उर्दू एक स्वतंत्र भाषा है और हिंदी में उर्दू-

फ़ारसी के शब्दों को भरकर हिंदी-उर्दू को एक कर देना एक असंभव काम में हाथ डालना होगा। वह हिंदी हिंदी कहलाने के योग्य नहीं, जिसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द भरे पड़े हों।

ऊपर हम देख चुके हैं कि राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मण सिंह के भाषा-संबंधी विचारों में कितना अंतर था। राजा शिवप्रसाद ने हिंदी को उर्दू की मदद से अपने पैरों पर खड़ी होने लायक़ बनाना चाहा था, यह शायद ठीक नहीं था। इस संबंध में पंडित रामचंद्र शुक्ल के विचार ध्यान देने योग्य हैं :—

"किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की संस्कृति-परम्परा से होता है, अतः साहित्य की भाषा उस संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती। भाषा में जो रोचकता या शब्दों में जो सौंदर्य्य का भाव रहता है, वह देश की प्रकृति के अनुसार होता है। इस प्रकृति के निर्माण में जिस प्रकार देश के प्राकृतिक रूप, रंग, आचार-व्यवहार आदि का योग रहता है, उसी प्रकार परंपरा से चले आते हुए साहित्य का भी। संस्कृत शब्दों के थोड़े-बहुत मेल से भाषा का जो रुचिकर साहित्यिक रूप हज़ारों वर्ष से चला आता था, उसके स्थान पर एक विदेशी रूप-रङ्ग की भाषा गले में उतारना देश की प्रकृति के विरुद्ध था।"

राजा लक्ष्मण सिंह के विचार भी कुछ ऐसे ही थे। उन्होंने १८६१ ई० में 'प्रजाहितैषी' नामक एक पत्र आगरे से निकाला और उसकी भाषा को हम सच्चे हिंदी गद्य का नमूना कह सकते हैं। इसके एक ही साल बाद उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुंतल' का

हिन्दी अनुवाद बड़ी सरस भाषा में किया। उस भाषा का थोड़ा सा नमूना नीचे दिया जाता है :—

"अनुसूया—(हौले प्रियम्वदा से) सखी ! मैं भी इसी सोच-विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा ! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो ? क्या कारन है, जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है ?"

यह भाषा यथार्थ में हिंदी गद्य कहे जाने के योग्य है। इसमें न तो अरबी-फ़ारसी ही से सहायता ली गई है और न संस्कृत के तत्सम शब्दों ही की भरमार है। हाँ, भाषा ठेठ और सरल अवश्य है और ब्रजभाषा का पुट लिये हुए है। इसमें के बहुत से शब्दों को राजा शिवप्रसाद तथा उनके समान विचारवाले 'ग्रामीण' (Coarse expression) कह सकते हैं; जैसे—'हौले', 'कारन' इत्यादि; पर ऐसा करना हिंदी का गला घोंटना होगा। प्रथम तो ऐसे लोगों को ठेठ और 'ग्रामीण' शब्दों में जो अंतर है, उसे भली भाँति समझ लेना चाहिये। कुछ लोगों की रुचि ऐसी बिगड़ गई है कि कोई भी शब्द यदि उसका स्वरूप कुछ विचित्रता लिये हुए या काठिन्य-पूर्ण नहीं है तो उनके ख़याल से वह साहित्यिक व्यवहार के योग्य नहीं है।

जहाँ कोई शब्द ज़रा सीधा-सादा या घरेलू देख पड़ा, बस उसकी 'ग्रामीण' संज्ञा हो गई और वह हेय समझ लिया गया।

अस्तु, राजा लक्ष्मण सिंह ने लल्लू लाल जी के दिखाये हुए मार्ग का अनुसरण किया और ब्रजभाषा तथा संस्कृत के सहयोग से एक नवीन गद्य-शैली को जनता के संमुख रखा। उस समय के बहुत से हिंदी भाषा-भाषी राजा शिवप्रसाद की मनोनीत भाषा के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे। ऐसे अवसर में राजा लक्ष्मण सिंह की चलाई हुई शैली उन्हें बहुत पसंद आई और हिन्दी के क्षेत्र में काम करनेवालों ने बड़े चाव से उसे अपनाया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की भी गद्य की भाषा राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी।

हरिश्चंद्र के कार्य की गवेषणा करने के पहले दो एक और हिंदी के प्रचारकों का उल्लेख कर देना आवश्यक है। जिस प्रकार इन प्रांतों में राजा शिवप्रसाद हिन्दी के प्रचार के लिये यथा-शक्ति उद्योग कर रहे थे, उसी प्रकार पंजाब प्रांत में एक नवीन चंद्र राय महाशय हिन्दी की बहुत कुछ सेवा कर रहे थे। उन्होंने १८६०—१८८० ई० के बीच में बहुत सी कोर्स की पुस्तकें लिखवाई और कुछ ख़ुद भी लिखीं। ये महाशय स्त्री-शिक्षा के बड़े भारी प्रेमी थे और स्त्री-शिक्षा के योग्य कुछ पाठ्य पुस्तकें भी इन्होंने निकलवाई थीं। इन्होंने कई पत्र-पत्रिकायें भी निकलवाईं, जिनमें [ए]क "ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका" मुख्य थी। इसमें शिक्षा [त]था विज्ञान-संबंधी उपदेश-पूर्ण लेख निकला करते थे। भाषा-[स]म्बन्धी इनके विचार राजा शिवप्रसाद के विचारों से बिलकुल

नवीन चन्द्र राय

पृथक् थे। उन्होंने उर्दू को यथासम्भव हिन्दी से दूर ही रखना उचित समझा।

आर्य समाज

शिक्षा-सम्बन्धी प्रचार और आंदोलन के साथ ही साथ उस समय में हठात् मतमतांतर-सम्बन्धी बहुत से आन्दोलन भी उठ खड़े हुए। ईसाइयों के बारे में प्रसिद्ध है कि ये जहाँ जाते हैं, पहले तो व्यापार के बहाने अपना रंग जमाते हैं, फिर अपने मत और साहित्य के साथ ही साथ अपनी सभ्यता को सर्वश्रेष्ठ सिद्धकर सबके ऊपर उसका सिक्का जमाना चाहते हैं। हिन्दुस्तान में भी मिशनरियों ने ईसाइयों का थोड़ा-बहुत रंग जमते ही अपना काम ज़ोरों से शुरू कर दिया और उनके आन्दोलन के फल-स्वरूप बहुत से हिन्दुस्तानी, ईसाई मतावलम्बी होने लगे। यह देखकर कुछ हिन्दुओं की आँखें खुलीं। पंजाब में 'आर्य समाज' और बङ्गाल में "ब्रह्मसमाज" ने हिन्दुओं को ईसाई होने से बचाया। आर्यसमाज के विधाता स्वामी दयानन्द हुए और ये वैदिक एकेश्वरवाद लेकर जनता के सामने उपस्थित हुए। स्वामी दयानन्द के मत-मतातंर-सम्बन्धी विचारों को लेकर यहाँ विलंब करने का अवसर नहीं है। यहाँ हमको केवल यह दिखाना है कि स्वामी दयानंद तथा उनके अनुयायियों के आंदोलन से हिंदी को क्या लाभ हुआ। प्रथम तो यह कि स्वामी जी ने अपनी अपूर्व प्रतिभा से यह समझ लिया था कि सर्वसाधारण के सामने धर्म-विषयक सब सिद्धांतों को भाषा में रखना ही उत्तम होगा। हिन्दुओं के

सब धर्म-ग्रंथ संस्कृत में थे और सर्वसाधारण के लिये उनका न होना होना बराबर था। कुछ पाखंडी पण्डित लोग अपनी मनमानी मचाये हुए थे। स्वामी जी ने हिंदू धर्म की इस कमज़ोरी को भली भाँति पकड़ा और देश में घूम घूमकर उपदेश और व्याख्यान देकर पंडितों का मुँह शास्त्रार्थ से बंदकर जनता के सामने वैदिक धर्म के तत्त्वों को खुलासा तौर से रखने लगे। उनके अनेक शिष्य भी इस काम को हरेक प्रान्तों में घूम घूमकर बड़े चाव से करने लगे। इससे हिन्दी को दो प्रकार से लाभ हुआ। दयानंदी लोग शुद्ध पण्डिताऊ हिंदी का ही प्रयोग करते थे, उर्दू-फ़ारसी से उन्हें स्वाभाविक चिढ़ थी। वे प्लेटफ़ार्म पर जिस भाषा का प्रयोग करते थे तथा पैंफ़्लेटों और खंडन-मंडन-सम्बन्धी पुस्तकों में जिस हिन्दी का प्रयोग करते थे, उसमें शुद्ध हिन्दी ही के शब्दों की भरमार रहा करती थी। दूसरे इनकी भाषा में व्यङ्ग तथा हास्य की मात्रा बहुत बढ़ गई। इसका कारण यह था कि इनका प्रधान उद्देश्य था विपक्षियों की युक्तियों का खंडन करना और उनका मुँह बन्द करना। यह काम बिना हास्य अथवा व्यङ्ग की सहायता से नहीं हो सकता था। इसी प्रथा ने उस चुभती हुई तथा कलेजे में गड़ जानेवाली भाषा-शैली का जन्म दिया, जो इस समय समालोचकों, पत्र-सम्पादकों तथा कुछ "क्रांतिकारी" लेखकों के गले का हार हो रही है।

एक और लाभ इन मत-प्रचारकों द्वारा जो हुआ सो यह था। आर्यसमाजियों के आन्दोलन का केन्द्र-स्थल पंजाब था, पर पंजाबियों के लिखने-पढ़ने की प्रधान भाषा उर्दू हो रही थी।

इसके प्रधान कारण दो थे—एक तो पंजाब में मुसलमानों का अत्यधिक संपर्क, दूसरे पंजाबी बोली में लिखित साहित्य का अभाव; पर इन मत-प्रचारकों और समाज-सुधारकों की पैंफ़्लेट-बाज़ी और उपदेशबाज़ी से हिन्दी की एक लहर पंजाब प्रांत में भी दौड़ गई और जिसके फल-स्वरूप आज भी वहाँ हिन्दी की उन्नति उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है।

पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी

सन् १८६३ के लगभग ही एक विचित्र विद्या-बुद्धि-संपन्न पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी का आविर्भाव पंजाब प्रांत में हुआ। ये एक प्रसिद्ध व्याख्याता तथा कथा-वाचक हो गये हैं। विचार-स्वातंत्र्य की मात्रा इनमें बहुत अधिक थी। स्थान स्थान पर इन्होंने धर्म-सभायें स्थापित कीं और इनके बहुत से भक्त उपदेशक बन-कर प्रांत प्रांत में घूम घूमकर इनके विचारों का प्रचार करने लगे। स्वामी दयानंद के प्रसिद्ध धर्म-ग्रंथ का नाम "सत्यार्थ प्रकाश" रखा गया था, उसी प्रकार इन्होंने अपने सिद्धांत ग्रंथ का नाम "सत्यामृत-प्रवाह" रखा। इस ग्रंथ की भाषा बड़ी प्रौढ़ है। ऊपर कहा जा चुका है कि ये बड़े ही स्वतंत्र विचार के मनुष्य थे और कुछ विषयों पर इनका सदा स्वामी दयानंद से विरोध रहा है। ये किसी भी उद्देश्य से वेद या शास्त्र के यथार्थ रहस्य को उलटा पलटा करके प्रगट करना अपनी अंतरात्मा के विरुद्ध समझते थे। इसी विचार-स्वातंत्र्य ही के कारण बहुत से इनसे वैमनस्य भी रखने लगे थे। यहाँ तक कि इनके

विरोधी इनको नास्तिक तक कह दिया करते थे; पर ऐसे लोगों की ये कभी परवाह नहीं करते थे।

हिंदी के प्रचार का ध्यान इनको बराबर रहा करता था। सन् १८६७ में इन्होंने "आत्म-चिकित्सा" नामक एक आध्यात्मिक ग्रंथ लिखा और चार साल पीछे उसका हिंदी अनुवाद भी इन्होंने प्रकाशित कराया। इसके पश्चात् इनकी लिखी हुई निम्नलिखित धर्म-पुस्तकें प्रकाशित हुईं:—

(१) तत्व-दीपक।

(२) धर्म-रक्षा।

(३) उपदेश-संग्रह (व्याख्यानों के संग्रह)।

(४) शतोपदेश (दोहे)।

(५) भाग्यवती (उपन्यास)।

इन ग्रंथों के सिवाय इन्होंने क़रीब डेढ़ हज़ार पृष्ठों में अपना एक विस्तृत जीवन-चरित्र लिखा। हिंदी में जीवन-चरित्र (Autobiography) लिखनेवाले यह पहले महाशय थे।

इनकी मृत्यु सन् १८८१ में हुई। ये हिंदी के एक सच्चे हितैषी थे।

स्वामी दयानंद सरस्वती १८२४—८३

आर्य समाजियों के आंदोलन के साथ ही स्वामी दयानंद के गद्य की आलोचना ज़रा पृथक् रूप से कर लेनी चाहिये। इनका गद्य कैसा था, यह जानने के पहले यह समझ लेना विशेष सुविधाजनक होगा कि स्वामी जी की मातृ-भाषा क्या थी, वे रहने वाले कहाँ के थे और किन परिस्थितियों में उनका

जीवन व्यतीत हुआ था; क्योंकि इन बातों का उनके गद्य पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। हिंदी उनकी मातृ-भाषा न थी। वे रहनेवाले काठियावाड़ प्रांत के थे और उनकी मातृ-भाषा गुजराती थी। दूसरे उन्होंने एक क्रांतिकारी मत को देश में फैलाया था। इस मत के प्रचार के लिये उन्हें देश के विभिन्न प्रांतों में घूम घूमकर शास्त्रार्थ के द्वारा पंडितों का मुँह बंद करना पड़ता था और युक्ति से अपने मत की श्रेष्ठता सिद्ध करनी पड़ती थी। इसके लिये उन्हें संस्कृत शास्त्रों का गंभीर अनुशीलन करना पड़ा था। शास्त्रार्थ करते करते उनका जीवन ही खंडन-मंडन-मय हो गया था; पर अपनी विलक्षण प्रतिभा से उन्होंने यह भी समझ लिया था कि हिंदी ही एक ऐसी भाषा है, जो सारे देश की व्यावहारिक भाषा हो सकती है और वही देश की राष्ट्र-भाषा भी हो सकती है; इसलिये गुजराती होते हुए भी अपने मत के प्रचार के लिये उन्हें हिंदी का विशेष रूप से अध्ययन करना पड़ा था। उन्होंने अपना सिद्धांत-ग्रंथ 'सत्यार्थ-प्रकाश' हिंदी ही में लिखवाया। यद्यपि इस विषय पर मत-भेद है कि सत्यार्थ-प्रकाश की भाषा स्वामी जी ही की है अथवा उन्होंने किसी दूसरे हिंदी के विद्वान् साहित्यिक से लिखाया था। इस संदेह का कारण यह है कि स्वामी जी के पत्रों की भाषा सत्यार्थ प्रकाश की भाषा से बिलकुल भिन्न प्रतीत होती है। उनके एक पत्र की भाषा देखिये :—

समर्थदान को पत्र

"मुंशी समर्थदान जी, आनंदित रहो! ज्वालादत्त जो भाषा

बनाता है..........ऐसा न हो कि पोपलीला घुसेड़ डाले। जैसी हमारी संस्कृत है, उसी के अनुकूल और कुछ न करे............।

तुम थोड़ी सी भाषा देख लिया करो, यह ज्वालादत्त तो विक्षिप्त पुरुष है..........यद्यपि मैंने सब पुस्तक गण-पाठ का नहीं देखा, परंतु भूमिका के पहले पृष्ठ में दृष्टि पड़ी तो (दूर दूर) के स्थान (दर दर) अशुद्ध छपा है। ऐसी भाषा को तुम भी देख सकते हो और यह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता; किंतु घास ही काटता है। इसके नमूने के लिये हम एक पत्र भेजते हैं, जिसकी उसने भाषा कुछ और बनाई है..........थोड़े दिन के पश्चात् पुराणे बहुत से पत्र इसके भाषा बनाये भेजेंगे, उसमें इसके दोष सैकड़ों दीख पड़ेंगे।"

इन पत्रों की भाषा ध्यान से देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक का भाषा-संबंधी दृक्कोण संस्कृत-मय है। कुछ शब्दों का लिंग-विचार संस्कृत व्याकरण के अनुसार किया गया है, जैसे—'सब पुस्तक गण-पाठ का नहीं देखा है। हिंदी के नियमानुसार 'पुस्तक' शब्द स्त्रीलिंग माना जाता है और तदनुसार 'का' के स्थान पर 'की' होना चाहिये था। दूसरे प्रचलित तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्दों को अधिक पसंद करते हैं, जैसे—'पुराने' की जगह 'पुराणे', 'सब' की जगह 'सर्व' इत्यादि। क्रियाओं में वे प्रायः संस्कृत की कुछ धातुओं के मूलरूप ही का व्यवहार कर दिया करते हैं, जैसे—'किया' है के स्थान पर 'करा' है तथा आज्ञा-प्रदर्शक क्रिया 'रखना' के स्थान पर 'धरना' आदि।

इन उदाहरणों से यह किसी प्रकार सिद्ध हो जाता है कि खड़ीबोली की मुहाविरेदार भाषा लिखने का अभ्यास स्वामी जी को नहीं था। उनकी भाषा में स्वाभाविकता नहीं है, उसमें विदेशीपने की गंध आती है।

इन्हीं बातों को देखते हुए 'सत्यार्थ-प्रकाश' की मुहाविरेदार भाषा को स्वामी जी की भाषा मानने में दुविधा होती है। जो हो; पर विचार उन्हीं के हैं। उनकी वैयक्तिकता की छाप जगह जगह सत्यार्थ प्रकाश में भी लगी हुई ज्ञात होती है। हास्य और व्यंग को, जो खंडन-मंडन के प्रधान साधन हैं, हिंदी गद्य-शैली में पहले पहल एक निश्चित स्थान देनेवाले यही महाशय थे।

दूसरा महत्वपूर्ण कार्य, जो स्वामी जी द्वारा हुआ, वह यह था। एक नवीन मत-प्रवर्तक होने के साथ ही साथ ये देश-हितैषी तथा समाज-सुधारक भी थे। इनके रग रग में देश-प्रेम तथा समाज-प्रेम भरा हुआ था। इनके ये देश-भक्ति से भरे हुए विचार यथावसर इनके व्याख्यानों तथा लेखों में प्रगट हुए बिना नहीं रह सकते थे। आजकल के 'क्रांतिकारी' लेखों में बहुत से लेख, जो राजनीतिक विषयों पर फड़कती हुई भाषा में देखने में आते हैं, उनके आदि गुरु स्वामी दयानंद को मान सकते हैं। स्वामी जी को हिंदुस्तान की सभी उपस्थित परिस्थितियों से, क्या देश, क्या शिक्षा, क्या समाज, क्या सरकार, सबसे असंतोष हो रहा था, हिंदुस्तानी कान में तेल डाले पड़े थे। इन सब बातों को देखकर स्वामी जी ने एक नया संदेश हिंदुस्तान के कोने कोने

में पहुँचाने का निश्चय किया। इसके हेतु सबसे बड़ी आवश्यकता ओजस्विनी और कान खड़े कर देनेवाली भाषा की थी। स्वामी जी के पहले किसी ने हिंदी-द्वारा किसी प्रकार का आंदोलन (propoganda work) नहीं किया था। इस प्रकार के कार्य के लिये जो आजकल बहुधा कुछ पत्रों या पुस्तकों में जो एक प्रकार की रूह को कँपा देनेवाली भाषा का प्रयोग देखने में आता है, उसके जन्मदाता स्वामी दयानंद ही माने जा सकते हैं और उनके बाद फिर बाबू हरिश्चंद्र।

हरिश्चंद्र-काल

हरिश्चंद्र १८५०—८१

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का आविर्भाव किन परिस्थितियों में हुआ था, यह हम ऊपर कई जगह प्रसंगवश दे चुके हैं। उनके समय में कुछ लोगों को अपनी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों पर असंतोष होने लगा था। अंग्रेजों का राज्य पहले लोगों को दूसरे रामराज्य के रूप में दिखाई पड़ा था; पर पीछे लोगों को उसके बाहिरी भलाइयों के अंदर कुछ बुराइयाँ भी प्रतीत होने लगीं और कुछ लोग अंग्रेजी की प्रसिद्ध कहावत 'All that glitters is not gold' (जो कुछ चमकता है, सब सोना नहीं है) को ब्रिटिश के ऊपर भी चरितार्थ करने लगे। कुछ ऐसे देश-भक्त भी पैदा हो गये, जो अंग्रेजी राज्य को उसको असली रूप में देखने लगे। हमारे भारतेंदु जी भी ऐसे देश-भक्तों में से एक थे। इनके माता-पिता यद्यपि इनकी बाल्यावस्था ही में परलोक-वासी हो गये थे और इनकी शिक्षा का प्रबंध भी संतोषजनक नहीं हो सका था तथापि ये विलक्षण प्रतिभा लेकर उत्पन्न हुए थे। कवि तो ये हुए ही, पर इसके साथ ही साथ कविता में राष्ट्रीयता के भाव लानेवाले पहले कवि ये ही महाशय थे। इनके नाटकों को ध्यान से देखने से स्पष्ट हो जाता है कि ये किसी विशेष स्थिति को देखकर लिखे गये थे। इनके

नाटकों की वजह ही से इनका नाम हिंदी साहित्य में अमर हो रहा है। सबसे पहले इनका ध्यान अपने भाषा-साहित्य की मृतप्राय अवस्था की ओर आकृष्ट हुआ। इन्होंने देखा कि उर्दू तो हिंदी की जड़ खोद ही रही थी कि इधर लोगों का शौक़ पाश्चात्य साहित्य की ओर बड़े ज़ोरों से बढ़ रहा था। यह अवस्था यदि कुछ दिन और रह पाती तो आज शायद हिंदी का नाम निशान भी मिट गया होता। हरिश्चंद्र ने सर्वसाधारण की रुचि उर्दू-फ़ारसी या अंग्रेज़ी की ओर से हटाकर, अपने हिंदी-साहित्य की ओर लगाने का दृढ़ संकल्प किया। इसके लिये उन्होंने सर्वोत्तम उपाय रोचक नाटकों का प्रकाशन तथा उनका अभिनय समझा। इसका एक कारण यह भी था कि नाटकों द्वारा जिस प्रकार जनता का ध्यान किसी विशेष परिस्थिति की ओर आकृष्ट किया जा सकता है, वैसे किसी दूसरे प्रकार के साहित्य द्वारा नहीं। दूसरे उन्हें थोड़ी ही उम्र में बंगाल जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। वहाँ उन्होंने आँख खोलकर देखा कि बंगाली लोग किस द्रुतगति के साथ नाटकों, उपन्यासों तथा काव्यों द्वारा अपने साहित्य को दिन दिन सर्वांग सुंदर बनाते जा रहे हैं। इसे देखकर उन्हें अपने साहित्य की म्रियमाण अवस्था विशेष रूप से खटकी और बंगाल से लौटते ही उन्होंने नाटक लिखने में हाथ डाल दिया। सबसे पहले उन्होंने "विद्या-सुंदर" नामक एक बंगला नाटक का अनुवाद किया। फिर क्रमशः उन्होंने कुछ संस्कृत तथा कुछ अंग्रेज़ी के उत्तमोत्तम नाटकों के अनुवाद किये और बहुत से मौलिक नाटक भी लिखे।

उनके नाटक तथा उनकी कविता के विषय को यहीं छोड़कर उनके गद्य ही की समालोचना हमें करनी है। आरंभ में ही यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि जान-बूझकर उन्होंने हिंदी-गद्य के लिये कुछ नहीं किया। वास्तव में उन्होंने कविता तथा नाटक ही के लिये अवतार लिया था। नाटकों में उन्हें कथोपकथन गद्य ही में लिखना होता था। बस इन्हीं कथोपकथनों ही में उनके गद्य के सर्वोत्कृष्ट नमूने मिलते हैं। इन्हीं नाटकों द्वारा ही एक ओर तो उन्होंने जनता में हिंदी-प्रेम तथा देश-प्रेम उत्पन्न किया तथा दूसरी ओर, यद्यपि गौण रूप से हिन्दी को भी प्रोत्साहन दिया तथा उसके विकास में उसे एक निश्चित रूप दिया। हरिश्चंद्र के पहले के गद्य-लेखक गद्य-विषयक या भाषा-विषयक एक विशेष विवाद को लेकर ही जन्म भर व्यस्त रहे। मुंशी सदासुखलाल की भाषा में कथावाचक पंडितों की भाषा की गंध आती है, लल्लूलाल भाषा को उर्दूपन से मुक्त रखने में तथा उसे पद्यमय रखने ही में भाषा का सौष्ठव समझते रहे, इधर सदल मिश्र की भाषा को यद्यपि उर्दूपन से उतनी चिढ़ नहीं थी और उनकी भाषा उनके समकालीन लल्लूलाल की भाषा से अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ हुई, पर उसमें पूर्बीपना आ गया। इन्शा अल्ला ने मौज में आकर ठेठ हिन्दी के एक ऐसे रूप को जनता के सामने रखने की चेष्टा की, जिसमें 'हिन्दी छुट और किसी भाषा की पुट न थी,' पर इस संकल्प को वे कहाँ तक पूरा कर सके, यह हम पहले देख चुके हैं। फिर लगभग पचास वर्ष के बाद राजा शिवप्रसाद को हम हिन्दी और उर्दू के बीच में 'पुल'

बाँधते हुए देखते हैं। उनकी भाषा को नागरी अक्षरों में उर्दू कहना ही विशेष ठीक होगा। उनके साथ ही राजा लक्ष्मण सिंह ने सितारे हिन्द का घोर विरोध किया और उनकी भाषा यद्यपि खड़ी बोली के यथार्थ रूप के बहुत निकट पहुँच गई थी, पर उसमें ब्रजभाषापन ज़रा कुछ आवश्यक से अधिक दीख पड़ा। स्वामी दयानंद की असली भाषा का रूप कैसा विचित्र तथा कितना विदेशीपन लिये हुए था, यह हम देख ही चुके हैं। हाँ, खड़ी बोली का यथार्थ निखरा हुआ साहित्यिक रूप पहले पहल भारतेंदुजी के नाटकों ही में दीख पड़ा; यद्यपि उन्होंने शायद जान-बूझ-कर ऐसा नहीं किया था। वे एक रसिक तथा भावुक कवि तो थे ही। उनके अधिकार में स्वभावतः एक मधुर भाषा-शैली आ गई थी, अतः कविता और नाटक के प्रसंग में जहाँ जहाँ उन्हें गद्य लिखने का अवसर प्राप्त हुआ, उनकी भाषा बड़ी रमणीय हुई। उन्होंने अपने नाटकों में संस्कृत तथा पाश्चात्य नाटक-साहित्य दोनों ही के सिद्धांतों को सुचारु रूप से मिलकर रखने का प्रयास किया है। कम से कम उनका कथोपकथन (dialogue) तो पाश्चात्य नाटककारों के ही ढर्रे पर चला हुआ दीखता है। इसीसे कहीं कहीं उनके कथोपकथनों में अपूर्व सजीवता आ गई है। उनकी भाषा के मधुर तथा सरस होने का कारण यह है कि वे ब्रजभाषा के एक उच्च श्रेणी के कवि थे। कर्ण-कटु शब्दों का प्रयोग उनकी प्रकृति के विरुद्ध था। यदि श्रुतिकटु पदों का प्रयोग कहीं कहीं अनिवार्य भी हो जाता था तो वे उन्हें यथासम्भव गढ़कर मधुर कर देते थे; पर इस प्रकार नहीं कि शब्द की

कितनी हृदय-स्पर्शी तथा भावपूर्ण (emotional) भाषा है। ऊपर के उद्धरण को ध्यान से देखने से स्पष्ट हो जायगा कि इसमें यथा-सम्भव छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग किया गया है और शब्द-योजना "मिश्रित" है। इस प्रकार की शैली का प्रयोग करते समय वे कभी कभी प्रचलित अरबी-फ़ारसी के शब्दों को भी काम में लाते हैं, पर बहुत कम।

कहीं कहीं उनकी शैली कुछ अधिक गंभीर हो जाती है। इसमें अपेक्षाकृत बड़े वाक्यों का प्रयोग करते हैं, पर भाषा किसी भी अवस्था में दुरूह नहीं होने पाती; क्योंकि उनके वाक्यों का अन्वय सदा सरल हुआ करता है। इस दूसरे प्रकार की शैली का प्रयोग वे मुख्यतः उस समय किया करते हैं, जहाँ उन्हें गम्भीर शोक या किसी स्थायी क्षोभ का निरूपण करना होता है। 'प्रेम-योगिनी' नाटक में सूत्रधार का कथन सुनिये :—

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बंधु, पिता, मित्र, पुत्र, सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एक मात्र मूर्ति, सौजन्य का एक मात्र पात्र, भारत का एक मात्र हित, हिन्दी का एक मात्र जनक, भाषा-नाटकों का एक मात्र जीवन-दाता हरिश्चन्द्र ही दुखी हो ? (नेत्र में जल भरकर) हा, सज्जन-शिरोमणे, कुछ चिन्ता नहीं, तेरा तो बाना है कि कितना भी दुःख हो, उसे सुख ही मानना। × × × मित्र ! तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों ही भूल जाते हो, तुम्हें इनकी निन्दा से क्या ? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो ? स्मरण

रखो, ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक-बहिष्कृत होकर इनके सिर पर बिहार करोगे।"

साधारणतया हरिश्चन्द्र इन्हीं दो प्रकार की शैलियों को काम में लाते थे। कहीं कहीं वे अधिक क्लिष्ट तथा संस्कृत-पूर्ण भाषा का भी प्रयोग करते हैं। ऐसी भाषा उनके 'नाटक' शीर्षक लेख में देखने में आती है; पर वह हरिश्चन्द्र की मनोनीत भाषा नहीं है, इसका प्रयोग वे केवल उस समय करते थे जब उन्हें किसी नये विषय पर लिखना होता था। वाग्वैचित्र्य अथवा भाषा-चमत्कार के लिये वे अपने भावों का ख़ून कभी नहीं करते थे। उन्हें जो कुछ कहना होता था, उसे वह सरल रीति ही से कहना उत्तम समझते थे, परन्तु इस सरलता के साथ ही साथ उनकी भाषा प्रभावकारिणी भी अत्यन्त होती थी। 'भारत-दुर्दशा' नाम का प्रहसन भाषा की दृष्टि से उनकी सर्वोत्तम कृति समझी जाती है। उनकी भाषा इतनी चुस्त और प्रभावोत्पादिनी (impressive) है कि आज भी शायद ही कोई लेखक उससे अधिक भाव-पूर्ण भाषा लिख सकता हो।

साधारण रूप से हरिश्चन्द्र के गद्य के बारे में कह सकते हैं कि वह द्विपार्श्विक है। कोमलता और मधुरता में तो उनके गद्य का सम्बन्ध राजा लक्ष्मणसिंह तथा लल्लूलाल के ब्रजभाषा-पूर्ण गद्य से है। दूसरी ओर मुहाविरेबाज़ी तथा चुस्ती में वह आधुनिक खड़ी बोली की समानता करता है। एक प्रधान गुण उनकी भाषा में 'नागरिकता' का है। इस सम्बन्ध में वे प्रायः राजा शिवप्रसाद ही के सदृश थे, पर उतने नहीं। कथोपकथन में प्रायः

ग्रामीण या नीच पात्रों-द्वारा वे अधकचरी भाषा का प्रयोग कराते हैं।

उनके मुसलमान पात्र शुद्ध उर्दू का प्रयोग करते हैं; पर इसके लिये तो कहा जा सकता है कि पात्र की हैसियत के हिसाब से भाषा का बदलना नाटक के एक खास नियम के अनुसार है; पर इस संबंध में यह भी कह देना अनुचित न होगा कि हरिश्चंद्र पात्रों की भाषा निश्चय करते समय कभी कभी असावधानी भी कर जाते थे। उनकी सर्वप्रसिद्ध नाटिका 'चंद्रावली' में चंद्रावली ही कहीं कहीं तो ठेठ ब्रजभाषा बोलती है और कहीं विशुद्ध खड़ीबोली; परंतु इन नाटकीय बखेड़ों से अलग भी कहीं कहीं उनकी भाषा में 'बनारसीपन' आ गया है।

हरिश्चंद्र के द्वारा हिंदी गद्य के विकास में तीन प्रकार से सहायता मिली। सबसे मुख्य बात यह हुई कि इनके प्रहसनों ने भाषा में हास्य तथा व्यंग की नवीन सृष्टि की। उनके संपर्क में आनेवाले बहुत से हिंदी-लेखक शीघ्रता-पूर्वक अपने अपने लेखों में हास्य तथा व्यङ्ग की मात्रा बढ़ाने लगे। उन लेखकों में सबसे प्रसिद्ध राधाचरण गोस्वामी, जगन्नाथदास रत्नाकर, बदरीनारायण चौधरी, श्रीनिवासदास तथा प्रतापनारायण मिश्र आदि कहे जा सकते थे।

भारतेंदुजी के प्रभाव में पड़कर ही इन लोगों ने भिन्न भिन्न प्रकार की रचनायें कीं; इसीलिये ये लोग हरिश्चंद्र 'स्कूल' के अंतर्गत समझे जाते हैं। हरिश्चंद्र को हास्य तथा व्यंग की सृष्टि करने में उस समय देश में उमड़ा हुआ स्वदेश-प्रेम और तत्कालीन

शासन-प्रणाली से असंतोष बड़े सहायक हुए। ग़दर के समय से ही लोगों में असंतोष बढ़ने लगा था; पर फल जब इससे कुछ नहीं हुआ तो लोगों को मज़ाक, व्यंग तथा गूढ़ कटाक्ष-पूर्ण आक्षेपों द्वारा दिल के फफोले फोड़ने में एक तरह का 'मज़ा' सा आने लगा। बस हरिश्चंद्र ने इसी परिस्थिति से लाभ उठाया। उनके 'भारत-दुर्दशा', 'भारत-जननी', 'वैदिकी-हिंसा हिंसा न भवति' आदि को ध्यान से देखने से मालूम होता है कि ये नाटक किसी एक विशेष परिस्थिति को देखकर लिखे गये थे।

दूसरी बात जो हिंदी-गद्य के लिये एक प्रकार से नई थी, वह थी चुभते हुए मुहाविरे तथा भाव-पूर्ण लोकोक्तियों या कहावतों की भाषा-शैली में उचित प्रयोग। इनकी कहावतें ग्रामीण कभी नहीं होती थीं। इनके मुहाविरे सदा नागरिक शिष्टता से युक्त और परिष्कृत होते थे और इनके हास्य और व्यंग को और भी निथरा हुआ रूप देने में सहकारी होते थे।

सबसे बड़ा उपकार हिंदी का भारतेंदु-द्वारा जो हुआ, वह यह था कि हिंदी सदा के लिये अस्थिरता के दलदल से बाहर खींच ली गई और बहुत अंशों तक विविध विषयों में प्रयोग के उपयुक्त उसका एक निश्चित रूप सदा के लिये बन गया। हरिश्चंद्र ने अपनी मिश्र भाषा-शैली को सर्वसाधारण के सामने रखकर यह एक प्रकार से सिद्ध कर दिया कि यदि हिंदी को सर्वविषयोपयुक्त और अपरिमितप्रयोग बनना है तो उसे केवल संस्कृत अथवा व्रजभाषा का अवलंब छोड़ना पड़ेगा और विदेशी प्रचलित शब्दों

को मिलाना होगा। क्या ही अच्छा होता, यदि ग्रामीण समझे जानेवाले सच्चे हिंदी के तद्भव शब्दों का भी उनके उन्हीं रूप में ले लेना कोई लेखक हिंदी के उज्ज्वल भविष्य के लिये अनिवार्य सिद्ध कर देता।

हिंदी और समाज की सेवा भारतेंदु बाबू ने दो-तीन अपनी चलाई हुई मासिक पत्रिकाओं के द्वारा भी किया, जिनका यहाँ थोड़ा सा उल्लेख कर देना आवश्यक है।

सन् १८६८ में उन्होंने 'कविवचन-सुधा' नाम की एक पत्रिका निकाली, जिसमें पहले पुराने कवियों की कवितायें छपा करती थीं; पर कुछ समय के उपरांत उसमें गद्य-लेख भी निकलने लगे थे।

सन् १८७३ में उन्होंने 'हरिश्चंद्र मैगज़ीन' नाम की एक पत्रिका निकाली, जिसका नाम आठ संख्या के बाद 'हरिश्चंद्र-चंद्रिका' हो गया था। हिंदी का परिष्कृत रूप पहले पहल इसी पत्रिका में दिखाई पड़ा। स्वयं भारतेंदु जी ने 'कालचक्र' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि—"हिंदी नई चाल में ढली सन् १८७३ ई०।" इसमें वे सब प्रकार के गद्य-निबंधों को यथाशक्ति स्वीकार कर नवीन लेखकों को यथेष्ट उत्साह देते रहे। इनकी देखा-देखी चौधरी बदरीनारायण जी ने भी "आनंद कादंबिनी" नाम की एक पत्रिका निकालनी शुरू की; परंतु उसमें वे भूल यह करते थे कि अपने ही लेख भर देते थे और इसके कारण भारतेंदु जी ने उन्हें एक बार मीठी फटकार भी बताई थी। भारतेंदु जी का प्रधान उद्देश्य था विभिन्न प्रकार की भाषा-

शैलियों का विकास देखना। उक्त मैगज़ीन में प्रकाशित हरिश्चंद्र का 'पाँचवें पैग़ंबर', मुंशी ज्वालाप्रसाद का 'कलिराज की सभा', बाबू तोताराम का 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न', मुंशी कमलाप्रसाद का 'रेल का विकट खेल' आदि लेख बड़े सुंदर निकले और सर्व-साधारण में उनका अच्छा आदर हुआ।

सन् १८७४ में हरिश्चंद्र ने स्त्री-शिक्षा-प्रचार के उद्देश्य से "बाला-बोधिनी" नाम की एक पत्रिका निकाली। स्त्री-समाज की उन्नति के लिये भी उन्होंने बहुत कुछ किया। 'नील देवी' नामक छोटे; परंतु अत्युत्तम नाटिका की भूमिका में उन्होंने स्त्री-शिक्षा-संबंधी जो अपने विचार प्रगट किये हैं, वे देखने-योग्य हैं।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि नाटकों के गद्य को छोड़कर अन्यत्र हरिश्चंद्र का गद्य उच्च कोटि का नहीं है। उनके कुछ स्वतंत्र गद्य-लेख 'काश्मीर-कुसुम', 'वैष्णव-सर्वस्व' तथा 'चरितावली' आदि देखने से ज्ञात होता है कि इन ग्रंथों के लिखते समय उन्हें भाषा-सौष्ठव का ध्यान बहुत कम था। उन्होंने इन्हें केवल धार्मिक आवेश तथा देश-प्रेम के भावों से प्रेरित होकर लिखा था। वे स्वयं वैष्णव थे और वैष्णव मत को श्रेष्ठ समझते थे। इसी प्रकार उन्होंने सूरदास आदि कवियों की जीवनियाँ लिखीं तो काव्य-प्रेम के भावों से प्रेरित होकर, परंतु यह मानना पड़ेगा कि जहाँ जहाँ उन्हें कविता या नाटक का सहारा नहीं मिला है, वहाँ उनकी भाषा-शैली में टकसालीपन नहीं आया है। 'नाटक' शीर्षक लेख में उनकी भाषा क्लिष्ट और दुरूह सी हो गई है।

पत्र-पत्रिकायें

यह हम ऊपर देख चुके हैं कि किस प्रकार भारतेंदु जी के समय में ही उनके प्रभाव तथा उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से कई प्रतिभाशाली लेखक हिंदी साहित्य की सेवा में तत्पर हो गये थे। हरिश्चंद्र ने नाटक अपनाया तो बाबू देवकीनंदन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी आदि ने उपन्यास लिखना आरंभ किया, पं० प्रताप-नारायण मिश्र तथा बालकृष्ण आदि ने हिंदी में साहित्यिक निबंध लिखने की नींव डाली तो कुछ प्रतिभाशाली लेखक पत्र-पत्रिकाओं की ओर झुके। इनके साथ ही साथ आलोचनात्मक साहित्य का भी आविर्भाव हुआ।

सबसे पहले राजा शिवप्रसाद ने 'बनारस-अखबार' नामक एक पत्र निकालना शुरू किया था। यह पत्र कैसा था तथा किस उद्देश्य से निकाला गया था, यह हम पहले देख चुके हैं। इसकी भाषा एक प्रकार से उर्दू ही थी; पर लिपि अवश्य देवनागरी थी। इसके बाद भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने तीन मासिक पत्रिकाएँ निकालीं—(१) "कवि-वचन-सुधा", (२) "हरिश्चंद्र मैगज़ीन", (३) "बाला-बोधिनी"। इनके विषय में भी हम ऊपर काफ़ी प्रकाश डाल चुके हैं। हरिश्चंद्र की देखादेखी पं० बदरीनारायण चौधरी ने "आनंद कादंबिनी" नाम की पत्रिका निकाली। इसमें विशेषतः वह अपने ही लेख निकाला करते थे। इन पत्रिकाओं के सिवाय पं० प्रतापनारायण मिश्र का "ब्राह्मण" और पं० बालकृष्ण भट्ट का "हिंदी-प्रदीप" विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं। इनके बारे में हम आगे चलकर अधिक

प्रकाश डालेंगे। हरिश्चंद्र-काल में पचीसों पत्रिकाएँ निकलीं, जिनमें से मुख्य यह हैं :—

(१)	अलमोड़ा-अखबार	संवत् १९२८	संपादक	पं० सदानंद मालवीय
(२)	हिंदी-दीप्ति-प्रकाश	,, १९२९	,,	कार्त्तिकप्रसाद खत्री
(३)	बिहार-बंधु	,, ,,	,,	केशवराम भट्ट
(४)	सदादर्श	,, १९३१	,,	श्री निवासदास, दिल्ली
(५)	काशी-पत्रिका	,, १९३३	,,	लक्ष्मीशंकर मिश्र, एम० ए०, काशी
(६)	भारत-बन्धु	,, १९३३	,,	तोताराम, अलीगढ़
(७)	भारत-मित्र	,, १९३४	,,	रुद्रदत्त, कलकत्ता
(८)	मित्र-विलास	,, १९३४	,,	कन्हैयालाल, लाहौर
(९)	हिंदी-प्रदीप	,, १९३४	,,	बालकृष्ण भट्ट, प्रयाग
(१०)	सारसुधा-निधि	,, १९३५	,,	सदानंद मिश्र, कलकत्ता
(११)	उचित वक्ता	,, ,,	,,	दुर्गाप्रसाद मिश्र, कलकत्ता
(१२)	सज्जनकीर्त्ति-सुधाकर	,, १९३६	,,	बंशीधर, उदयपुर
(१३)	आर्य्य-दर्पण	,, १९३४	,,	बख्तावरसिंह, शाहजहाँपुर
(१४)	भारतसुदशा-प्रवर्तक	,, १९३६	,,	गणेशप्रसाद, फर्रुखाबाद
(१५)	आनद कादंबिनी	,, १९३९	,,	उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी, मिर्ज़ापुर
(१६)	कविकुलकंज-दिवाकर	१९४१	,,	रामनाथ शुक्ल, बस्ती

(१७) दिनकर-प्रकाश	,, १९४०	,,	रामदास वर्मा, लखनऊ
(१८) देश-हितैषी	,, १९३९	,,	अजमेर
(१९) धर्म-दिवाकर	,, १९४०	,,	देवीसहाय, कलकत्ता
(२०) प्रयाग-समाचार	,, ,,	,,	देवकीनंदन त्रिपाठी
(२१) पीयूष-प्रवाह	,, १९४१	,,	अंबिकादत्त व्यास
(२२) ब्राह्मण	,, १९४०	,,	प्रतापनारायण मिश्र
(२३) भारत-जीवन	,, १९४१	,,	रामकृष्ण वर्मा, काशी
(२४) भारतेंदु	,, ,,	,,	राधाचरण गोस्वामी, वृन्दावन
(२५) शुभचिंतक	,, १९४०	,,	सीतराम, जबलपुर
(२६) सदाचार मार्त्तंड	,, ,,	,,	लाला लालचंद्र शास्त्री, जयपुर
(२७) हिंदुस्तान	,, ,,	,,	राजा रामपालसिंह, इंगलैंड

इन ऊपर दी हुई पत्रिकाओं में से कुछ तो थोड़े ही समय के उपरांत बंद हो गईं और कुछ रूपान्तर से आज भी चल रही हैं। इनमें से कुछ तो केवल साहित्य-सेवा के उद्देश्य से निकाली गई थीं और कुछ धार्मिक और सामाजिक सुधारों के लिये, और कुछ में दोनों विषय रहा करते थे। इनके उत्तरोत्तर प्रचार से हिंदी को कई प्रकार से लाभ हुआ। पहली सबसे मुख्य बात तो यह हुई कि खड़ी बोली का मँजा हुआ साहित्यिक रूप दिन पर दिन परिष्कृत होने लगा, दूसरे हिंदी-गद्य धीरे धीरे अपरिमित-

प्रयोग हो चली। विविध प्रकार की शैलियों की लोग परीक्षाकर व्यावहारिक हिंदी के एक निश्चित रूप तक पहुँचे। इस शैली का मुख्य उद्देश्य यह रहता है कि भाषा दुरूह न हो और सर्वसाधारण की रुचि के प्रतिकूल न होकर रोचक तथा सजीव हो। राजा शिवप्रसाद तथा लक्ष्मण सिंह तक हिन्दी-गद्य-शैली में ज़िन्दादिली नहीं आई थी। हिन्दी-संसार में पहले पहल इसका दिग्दर्शन भारतेंदु बाबू ने कराया। फिर उनके प्रभाव से उनके लेखक-मंडल ने भी गद्य में सजीवता (life) का समावेश करने पर ही विशेष ध्यान रक्खा। कुछ पत्र संवाद भी छापते थे, पर बहुत ही साधारण रूप से। हिंदुस्तान के पत्रों में राजनीतिक विषयों का उल्लेख कब से होने लगा, यह कहना कठिन है। सबसे पहले शायद महामना मालवीय मदनमोहन जी ही ने इस विषय को अपने पत्र 'अभ्युदय' में स्थान दिया। हिंदी से पहिले बङ्गाली पत्रों ने राजनीतिक विषयों पर लिखना आरंभ किया था, उनकी देखादेखी कलकत्ते से निकलनेवाले 'भारत-मित्र' और 'बङ्गवासी' भी धीरे धीरे इस विषय को स्थान देने लगे। पत्रिकाओं में यह विषय बहुत देर से स्थान पाने लगा है। आज भी जब देश के प्रायः सभी भाषा के पत्र इसी को प्रधान विषय बना रखे हैं, कुछ पत्रिकायें डरते डरते ही कुछ इस विषय पर लिखने का दुस्साहस करती हैं। यहाँ पर राजनीतिक विषयों से हमारा मतलब उन विषयों से है, जिनमें गवर्नमेंट के कार्यों की कड़ी आलोचना हो। मुख्य उद्देश्य इन पत्रों तथा विशेषतः पत्रिकाओं का साहित्य-सेवा रहा है।

हरिश्चन्द्र के बाद ही पं० प्रताप नारायण मिश्र के गद्य की आलोचना करनी उपयुक्त है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि मिश्र जी हरिश्चन्द्र की साहित्य-गोष्ठी के खास लेखकों में से थे और यहाँ तक कि वे उन्हें गुरु तक मानते हैं। दूसरे यह कि यद्यपि मिश्र जी बाबू साहब को अपना साहित्यिक गुरु समझते थे तथापि उनकी भाषा को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों के भाषा-विषयक सिद्धांतों में एक प्रधान विषय में मत-भेद है। बाबू साहब के गद्य में नागरिकता कूट कूट भरी पड़ी थी। ग्रामीण अथवा घरेलू शब्दों तथा मुहाविरों को हरिश्चन्द्र भी राजा साहब की तरह 'अछूत' समझते थे, यद्यपि उस परिमाण में नहीं, जिसमें कि राजा साहब; परन्तु मिश्र जी के गद्य में इस प्रकार के शब्दों तथा मुहाविरों का प्रयोग प्रचुर परिमाण में होता है। इनके लेखों के शीर्षक ही देखने से पता चल जाता है कि ग्रामीण मुहाविरों के ये कितने बड़े पक्षपाती थे। जैसे—"घूरेक लत्ता बीनैं कनातनक डौल बांधै", "मरेका मारैं साहमदार", "भलमंसी", "भौं" इत्यादि। इनके लेखों की हर बात से इनकी उमङ्ग तथा विनोदप्रियता का पता लगता है। इसीसे लोग कहते हैं कि मिश्र जी के लेखों में "व्यक्तित्व की छाप" है। the style is the man (रचना-शैली ही लेखक है) वाली कहावत मिश्र जी की शैली के बारे में सोलहो आने चरितार्थ होती है। इनके लेख ज्यों ज्यों पढ़ते जाइये त्यों त्यों लेखक के बारे में अधिकाधिक जानने की उत्सुकता बढ़ती चली जायगी। (इसी

पं० प्रताप नारायण मिश्र १८५६—१८९४

को साहित्यिक लोग शैली में 'घनिष्ठता' कहते हैं) उनकी शैली में इस गुण के आने का प्रधान कारण लोग यह बतलाते हैं कि उनका जीवन-वृत्तांत उतना ही रोचक है, जितना कि उनका साहित्यिक कार्य। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि 'उनके प्रत्येक साहित्यिक गुण का उल्लेख करते समय यदि प्रयत्न किया जाय, तो उसी के समानान्तर उनके दैनिक जीवन की कोई न कोई घटना अवश्य मिल सकती है।' इनके बारे में प्रसिद्ध है कि ये जन्म ही से बड़े स्वतंत्र और मौजी जीव थे। इनके पिता इन्हें अपनी ही भाँति ज्योतिषाचार्य बनाना चाहते थे, पर इन्हें ग्रंथ घोंटने से चिढ़ थी। ये प्रेम-मय जीवन बिताने ही में जीवन की सार्थकता समझते थे। सब प्रकार के बड़े से बड़े तथा साधारण से साधारण लोगों में एक रूप से मिलते थे। दिल्लगीबाज़ भी परले सिरे के थे; पर इन सब बातों के होते हुए भी इनकी विलक्षण प्रतिभा के बारे में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिये।

अपने साहित्यिक उद्देशों की सिद्धि के लिये इन्होंने भी एक पत्रिका का सहारा लेना ही उचित समझा। इनका चलाया हुआ 'ब्राह्मण' बहुत दिनों तक साहित्य-सेवा करता रहा। साहित्य-सेवा में इनका प्रधान उद्देश्य सदा से यह रहा है कि जैसे हो अधिकाधिक लोगों की प्रवृत्ति और रुचि हिन्दी की ओर आकृष्ट की जाय। हरिश्चन्द्र के प्रभाव से उन दिनों बहुत से प्रतिभाशाली लेखक हिन्दी-साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों की पूर्ति करने में तन्मय हो रहे थे; परन्तु उस समय के हिन्दी भाषा-भाषी समाज का मानसिक विकास इतना नहीं हुआ था कि सब प्रकार के साहित्य

के आनन्द लेने की क्षमता उसमें आ गई हो। इसका कारण शिक्षा की अपूर्णता ही कही जा सकती है। दूसरा कारण यह भी कहा जा सकता है कि जनता का पिंड उर्दू से नहीं छूटा था। शायद इसी अवस्था को ध्यान में रखते हुए मिश्र जी ने एक जगह कहा है:—

"अब आज अन्य भाषा वरंच अन्य भाषाओं का करकट (उर्दू) छाती का पीपल हो रही है; अब यह चिन्ता खाये लेती है कि कैसे इस चुड़ैल से पीछा छूटे।"

उधर बढ़ते हुए पाश्चात्य-साहित्य की माया से भी हिन्दू जनता को बचाना था। इन्हीं सब परिस्थितियों को देखकर मिश्रजी को यह सूझी कि सुगम और रोचक साहित्य-द्वारा जनता का ध्यान साधारणतया हिन्दी तथा विशेषतया गम्भीर-साहित्य की ओर आकृष्ट किया जाय। इसी लक्ष्य से वे 'ब्राह्मण' में हास्य और व्यङ्ग की मात्रा तथा देशी शब्द और मुहाविरों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ाने लगे। इस पत्र का प्रधान उद्देश्य साहित्य-सेवा तो है ही, पर साथ ही साथ सामाजिक कुरीतियों के निवारण का भी मिश्र जी को बराबर ध्यान था, उदाहरण के लिये ये लेख दिये जा सकते हैं :—

"किस पर्व में किसकी बनि आती है"—इसमें एक जगह वे लिखते हैं :—

"पितृ-पक्ष में आर्यसमाजी कुढ़ते कुढ़ते सूख जाते होंगे कि हाय ! हम सभा करते लेक्चर देते मरते हैं, पर पोप जी देश भर का धन खाये जाते हैं।"

"माघ के महीने का महीना कनौजियों का काल है, पानी छूते हाथ-पाँव गलते हैं, पर हमें बिना स्नान किये फल, फलहारी खाना भी धर्मनाशक है !!" सामाजिक विषयों पर उनके और प्रसिद्ध लेख ये हैं:—

'हमारी आवश्यकता', 'नारी', 'ख़ुशामद', 'देवमन्दिरों के प्रति हमारा कर्तव्य।'

कुछ समय के उपरान्त उन्होंने 'ब्राह्मण' की रीति-नीति में कुछ परिवर्तन भी किये थे। उसमें केवल हास्य ही व्यङ्ग न रखकर सीधी-सादी भाषा में नैतिक विषयों पर भी कुछ लिखना उन्होंने अनिवार्य समझा। 'हमारी आवश्यकता' शीर्षक लेख में वे अपनी नीति स्पष्ट कर देते हैं :—

"जी बहलाने के लेख हमारे पाठकों ने बहुत से पढ़ लिये। यद्यपि इनमें भी बहुत सी समयोपयोगी शिक्षा रहती है, पर वाग्-जाल में फँसी हुई ढूँढ़ निकालने-योग्य; अतः अब हमारा विचार है कि कभी कभी ऐसी बातें भी लिखा करें, जो इस काल के लिये प्रयोजनीय हैं तथा हास्य-पूर्ण न होके सीधी-सादी भाषा में हों। हमारे पाठकों का काम है कि उन्हें निरस समझ के छोड़ न दिया करें तथा केवल पढ़ ही न डाला करें, वरंच उनके लिये तन से धन से कुछ न हो सके तो वचन ही से यथावकाश कुछ करते भी रहें।"

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिर्फ़ 'हँसने का मसाला' जुटाना ही 'ब्राह्मण' का उद्देश्य नहीं था। हिन्दी भाषा-भाषी संसार का साहित्यिक और नैतिक उत्थान ही मिश्र जी का

ध्येय था; पर इस ध्येय का प्रतिपादन वे 'कथाछलेन बालानां नीतिस्तदिहकथ्यते' वाले सिद्धान्त के अनुसार करते थे।

अब मिश्र जी का गद्य कैसा था यह देखना चाहिये। कुछ विद्वानों का कथन है कि उनका गद्य सचमुच युग-प्रवर्तक था। अब तक जितने गद्य-निर्माताओं का उल्लेख हो चुका है, उनमें से प्रत्येक ने कोई न कोई खास बात हिन्दी गद्य में पैदा की या पैदा करने की कोशिश की। मिश्र जी ने भाषा में सजीवता तथा सरलता लाने के लिये ग्रामीण शब्दों तथा मुहाविरों का प्रयोग करना भाषा की दृष्टि से बुरा नहीं समझा। वे कभी कभी गहन से गहन विचारों या तथ्यों की विवेचना इसी सीधी-सादी भाषा में कर जाते थे। उनमें यह विशेषता थी कि चाहे कैसा ही विषय क्यों न हो, उसे वे किसी न किसी तरह विनोद-पूर्ण बनाये बिना न छोड़ते थे। इसके उपरांत आचार्य इन्शाअल्ला की भाँति ये भी कोई बात सीधी-सादी तौर पर न कहकर उसे घुमा-फिराकर कहने में ही कारीगरी समझते थे; दूसरे शब्दों में मिश्र जी बड़े वक्रोक्ति-कुशल थे। इस विषय में ये गद्य के सब लेखकों से निराले हैं। इनकी भाषा का पूरबीपन और कहीं कहीं इनकी जन्म-भूमि 'बैसवारे' के तरफ़ के ज्यों के त्यों रखे हुए मुहाविरे अक्सर खटकते हैं; पर इसकी मिश्र जी को कुछ भी परवाह शायद न थी। ग्राम्य कहावतों का प्रयोग भी वे निरंकुश रूप से करते थे। उन्होंने इस प्रकार अपने गद्य में 'घरेलूपन' ख़ूब घोला; पर इससे कोई हानि न होकर भाषा में सजीवता की ही वृद्धि हुई। इन्होंने और पं० बालकृष्ण भट्ट ने भी अरबी या

फ़ारसी के शब्दों को अपनी भाषा में भरना उचित नहीं समझा। जहाँ कहीं मिश्र जी को किसी भाव के लिये कोई प्रचलित शब्द नहीं मिलता था तो वे संस्कृत या फ़ारसी की शरण न लेकर ग्राम्य शब्दों को टटोलते थे, पर वहाँ भी यदि इनको निराश होना पड़ता था तो फ़ारसी का शब्द न लेकर वे संस्कृत शब्द का व्यवहार करना ही श्रेष्ठ समझते थे। फ़ारसी के वे ही शब्द वे प्रयोग में लाते थे, जो हिंदी में व्यवहृत होते होते घरेलू से हो गये हैं और उनके स्थान पर कोई दूसरा शब्द बिना भाव को हानि पहुँचाये हुए नहीं बैठ सकता था। हाँ, इतना अवश्य था कि वे ऐसे शब्दों को केवल विदेशी उत्पत्ति के होने ही की वजह से घृण्य नहीं समझते हों।

भाषा के इन्हीं गुणों के कारण मिश्र जी का गद्य पढ़ते समय एक विचित्र प्रकार की 'घनिष्ठता' प्रतीत होती है। पढ़ते समय मालूम होता है कि लेखक का हृदय निकालकर रखा हुआ है।

लेखक के भीतर क्या है, उसका स्वभाव कैसा है, उसकी रुचि आदि कैसी है, इनका आभास यदि उस लेखक की कृति से मिले तो समझना चाहिये कि उसके लेख में 'वैयक्तिकता की छाप' है। यह बात जिस परिमाण में इन्शाअल्ला और मिश्र जी में पाई जाती है, उतनी शायद किसी में नहीं। कुछ लेखक ऐसे भी होते हैं, जिनका ग्रंथ का ग्रंथ पढ़ जाइये, पर लेखक से घनिष्ठता कहीं भी आपको न मालूम होगी। ऐसे लेखकों में हम गोसाईं गोकुलनाथ और राजा शिवप्रसाद आदि का उल्लेख कर सकते हैं। यद्यपि मिश्र जी की रुचि हास्य-विनोद और

व्यङ्ग की ओर अधिक रहा करती थी; पर इसका यह मतलब नहीं होना चाहिये कि वे गंभीर होकर संयत भाषा में लिखना जानते ही न थे या लिखते ही न थे। उनकी इस प्रकार की शैली का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

"शरीर के द्वारा जितने काम किये जाते हैं, उन सबमें मन का लगाव अवश्य रहता है। जिनमें मन प्रसन्न रहता है, वही उत्तमत्ता से होते हैं और जो उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं होते, वह वास्तव में चाहे अच्छे कार्य भी हों; किंतु भले प्रकार पूर्ण रीति से सम्पादित नहीं होते, न उनका कर्त्ता ही यथोचित आनंद लाभ करता है। इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर रूपी नगर का राजा है और स्वभाव उसका चंचल है। यदि स्वच्छंद रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में धावमान रहता है। यदि रोका न जाय तो कुछ काल में आलस्य और अकृत्य का व्यसन उत्पन्न करके जीवन को व्यर्थ और अनर्थ-पूर्ण कर देता है।"

ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिश्र जी के लेखों में आश्चर्य और मनोविनोद इन दो अनुभावों के सिवा मनन करने के योग्य गंभीर विचार भी मिलते हैं।

इन सब बातों के होते हुए भी मिश्र जी की शैली सर्वथा दोष-रहित न थी। प्राय: ये लिखते समय असावधानी कर जाया करते थे। विरामादि के चिह्नों का इन्हें बहुत कम ध्यान रहता था। पढ़ते समय यदि इनके गद्य को ध्यान से न पढ़ा जाय तो प्राय: एक वाक्य दूसरे से इस प्रकार सँटे हुए प्रतीत

होते हैं कि लेखक का यथार्थ तात्पर्य समझने में अड़चन होती है। इसके सिवा ये महाशय प्रायः व्याकरण और वर्णविन्यास (spelling) में कभी कभी असावधानी कर जाते थे। उदाहरण ढूँढ़ने से बहुत मिलेंगे; जैसे—'ऋषि' को 'रिषि' इत्यादि।

पं० बालकृष्ण भट्ट १८४४—१९१४

पं० प्रतापनारायण मिश्र और पं० बालकृष्ण भट्ट का नाम हिंदी-साहित्य में उसी तरह लिया जाता है, जैसे अंग्रेजी साहित्य में 'एडीसन' और 'स्टील' का। इसका कारण यही है कि हिंदी में साहित्यिक लेखों के जन्म-दाता येही दोनों महाशय हैं। पं० बालकृष्ण भट्ट मिश्र जी के समकालीन थे और उनके शैली-संबंधी विचार भी कुछ अंशों में मिश्र जी के विचारों से मिलते थे। हास्य और व्यङ्ग के प्रेमी दोनों महाशय थे; पर दोनों ने जिस उद्देश्य से हिंदी की सेवा करनी आरंभ की, उसमें कुछ विभेद था। मिश्र जी के उद्देश्य से तो हम लोग परिचित हैं। वे सुगम साहित्य के अधिकाधिक प्रचार के द्वारा जनता की साहित्यिक रुचि को उद्दीप्त कर उसे क्रमशः विदग्ध साहित्य की ओर आकर्षित करना चाहते थे। इधर भट्ट जी ने हिंदी गद्य में उच्च कोटि के गद्य का नितान्त अभाव देखा और यथा-शक्ति हिंदी-गद्य को उच्च कोटि के साहित्य से पूर्ण करने की चेष्टा की। इसी उद्देश्य से उन्होंने 'हिंदी-प्रदीप' नाम का एक उच्चकोटि का पत्र क़रीब ३२ साल तक अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए निकाला। इस पत्र ने कैसी साहित्य-सेवा की, इस विषय में स्वयं उन्होंने एक जगह कहा है :—

"पाठक ! इस बत्तीस साल की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक तथा अन्यान्य प्रबंध भरे पड़े हैं। वे सब यदि पुस्तकाकार छपा दिये जायँ तो निस्संदेह हिंदी-साहित्य के अंग का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जाय......।"

इस उक्ति से इस बात का पता चल जाता है कि उन्हें इस बात का सदा ख्याल रहता था कि उनकी लेखनी द्वारा 'हिंदी-साहित्य के अङ्ग का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जाय'। इसके सिवाय एक जगह उन्होंने अपना उद्देश्य स्पष्ट भी कर दिया है :—

"प्रोज़ (गद्य) हिंदी का बहुत ही कम और पोच है। सिवाय एक प्रेमसागर सी दरिद्र रचना के इसमें कुछ है ही नहीं, जिसे हम इसके साहित्य के भण्डार में शामिल करते। दूसरे उर्दू इसकी ऐसी रेढ़ मारे हुए है कि शुद्ध हिंदी तुलसी, सूर इत्यादि कवियों की पद्य-रचना के अतिरिक्त और कहीं मिलती ही नहीं।"

इस अवतरण से स्पष्ट जान पड़ता है कि उनको हिंदी-गद्य की मृतप्राय अवस्था को देखकर दुःख हुआ तथा जो कुछ लोग हिंदी-गद्य में लिखते भी हैं, वह साहित्यिक दृष्टि से नहीं के बराबर होता है, यद्यपि प्रेमसागर सी मधुर रचना को उनका 'दरिद्र' कहना ज़रा खटकता है। हिंदी-गद्य की इसी 'दरिद्रावस्था' को देखकर उन्होंने इसे यथासंभव संपन्न करने (enrich) की ठान ली।

इसके उपरान्त उर्दू के अत्यधिक प्रचार से हिंदी को ठेस पहुँच रही थी, वह भट्ट जी को असह्य जान पड़ी। यद्यपि उनके लेखों

में उर्दू शब्दों और मुहाविरों का वहिष्कार नहीं है तथापि उनकी गणना अधिकतर शुद्धिवादियों ही में करना ठीक है; क्योंकि उनका सिद्धान्त तो यह था कि यदि किसी भाव को उत्तम रीति से प्रगट करने के लिये अपनी भाषा में ठीक शब्द न मिलें और विदेशी भाषा में वैसा शब्द मिलता हो तो उसके व्यवहार करने में न हिचकना चाहिये। इसी सिद्धान्त के अनुसार उर्दू तो क्या वे प्रायः अङ्गरेजी के शब्दों का बेधड़क प्रयोग कर बैठते थे; जैसे—दिल और दिमाग़ शीर्षक लेख में 'इण्टलेक्ट' और 'फीलिङ्ग' और 'बातचीत' शीर्षक लेख में 'स्पीच'। कभी कभी वे अपने लेखों के शीर्षक अङ्गरेजी ही में रखते थे; जैसे— "Are the nation and individual two different things?" इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुद्ध हिंदी के प्रेमी होते हुए भी वे पुराने संस्कृत के पंडितों की भाँति विदेशी शब्दों को अछूत समझकर संस्कृत शब्दों की भरमार से भाषा को दुरूह बनाकर भावों की हत्या करना उचित नहीं समझते थे। वे नये शब्दों को गढ़ने में भी बड़े सिद्ध-हस्त थे। किसी खास आशय को प्रगट करने के लिये यदि कहीं उनको ठीक शब्द नहीं मिलता था तो वे कोई न कोई नया शब्द या मुहाविरा बना डालते थे। इस विषय में वे प्रायः सभी गद्य-लेखकों से बाजी मार ले जाते हैं। कोष्ठबन्दी (bracketting) का आविर्भाव हिंदी में पहले पहल भट्ट जी ने ही किया था। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर साहित्यिकों ने इन्हें 'आविष्कारक गद्य-लेखक' कहा है। इस-में वे प्रतापनारायण मिश्र से बहुत आगे निकल जाते हैं। मिश्रजी

के सामने जो प्रस्तुत शब्द तैयार मिलता था, उसी से अपना काम निकालते थे।

एक खास बात उनके गद्य में यह थी कि उनके लेखों में पांडित्य अथवा विद्वत्ता का परिचय पग पग पर होता है। उनके लेखों से 'साहित्यिकता' की आभा फूट फूटकर निकलती है। यह बात मिश्र जी के लेखों में नहीं है। इस विषय में वे (भट्ट जी) महावीरप्रसाद द्विवेदी की श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

उन्होंने जो कुछ साहित्य-सेवा की, वह सब अपने 'हिंदी प्रदीप' के द्वारा; इसलिये यह पत्र कैसा था, यह जान लेना ज़रा आवश्यक जान पड़ता है। इसके लेख उच्चकोटि के और विशेषत: साहित्यिक होते थे। अधिकतर इसमें भट्ट जी ही के लेख हुआ करते थे और इसमें कविता को बहुत कम स्थान मिलता था। साहित्यिक लेखों को इसमें प्रधान रूप से स्थान मिलता था। इसके उपरान्त सामाजिक तथा राजनीतिक घटनाओं के लेखों का नंबर आता था। कभी कभी मनोविनोद के लिये भी सामग्री रहती थी। भट्ट जी संस्कृत के विद्वान तो थे ही; अत: कभी कभी संस्कृत-साहित्य से चुन चुनकर कुछ सूक्तियाँ भी रख देते थे। कहीं कहीं उनके लेख असाधारण और कल्पनापेक्ष विषयों पर निकल जाया करते थे, जैसे—'ईश्वर क्या ही ठठोल है', 'नाक निगोड़ी भी बुरी बला है', 'आँसू', 'चंद्रोदय' इत्यादि। साहित्यिक सौंदर्य तथा कल्पनापेक्ष तो प्राय: उनके सभी लेख हुआ करते थे; पर बहुत से लेख ऐसे 'विचित्र' हुआ

करते थे कि बिना पूरा पढ़े केवल शीर्षक देखने से उनके विषय का पता न लगता था। साहित्यिक दृष्टि से उनके कुछ लेख तो इतने उच्चकोटि के हुआ करते थे कि वे चार्ल्स-लैम्ब के उत्तमोत्तम लेखों के साथ साथ रखे जा सकते हैं; जैसे—'बात-चीत', 'ईश्वर क्या ही ठठोल है', 'आँसू', 'बाल्यकाल' इत्यादि। छोटी-मोटी बातों को लेकर ऐसी ऊँची उड़ाने लेते हैं कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं। घनिष्ठता और वैयक्तिकता की छाप भी इनके लेखों में वैसी ही है जैसी लैंब के लेखों में। अब इनकी भाषा का थोड़ा सा नमूना देखिये :—

आँसू

"मनुष्य के शरीर में आँसू भी गड़े हुए खज़ाने के माफ़िक़ हैं। जैसा कभी कोई नाज़ुक वक़ आ पड़ने पर संचित पूँजी ही काम देती है, उसी तरह हर्ष, शोक, भय, प्रेम इत्यादि भावों को प्रगट करने में जब सब इंद्रियाँ स्थगित होकर हार मान बैठती हैं तब आँसू ही उन उन भावों को प्रगट करने में सहायक होती है। चिरकाल के वियोग के उपरान्त जब किसी दिली दोस्त से मुलाक़ात होती है तो उस समय हर्ष और प्रमोद के उफ़ान में अंग अंग ढीले पड़ जाते हैं, वाष्प-गद्गद् कण्ठ रुँध जाता है; जिह्वा इतनी शिथिल पड़ जाती है कि उससे मिलने की खुशी को प्रगट करने के लिये एक एक शब्द बोझ सा मालूम होता है।"

भट्ट जी के बहुत से लेख इतने उच्चकोटि के होते थे कि उस समय उनको बहुत थोड़े से साहित्यज्ञ ही समझ सकते थे।

मिश्र जी तो हमेशा जनता की रुचि का अधिक नहीं तो कुछ न कुछ अवश्य ख्याल रखा करते थे। इसके साथ ही पाठकों की गुण-ग्रहण शक्ति को देखकर तब जो कहना होता था, कहते थे; परन्तु भट्टजी को तो हिंदी गद्य में कुछ स्थायी साहित्य रख जाने की धुन सवार रहा करती थी। उनकी इस प्रवृत्ति को देखते हुए कुछ लोगों का यह कहना कि वे अपने समय के बहुत आगे थे, अनुचित नहीं जान पड़ता। जो हो भट्ट जी ने हिंदी गद्य को अत्यधिक शुद्ध तथा परिमार्जित कर दिया और उसे उच्चकोटि के साहित्य के उपयुक्त बनाया। प्रतापनारायण मिश्र ने जो कुछ कमी छोड़ रखी थी, जो कुछ शिथिलता, अशिष्टता या ग्रामीणता उनकी भाषा में पाई जाती थी, उसका उन्होंने भरसक प्रतिकार किया और जो कुछ उनसे छूटा, उसे पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रौढ़ लेखनी ने पूरा किया।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी १८६४——

अब तक के गद्य-निर्म्माताओं ने भाषा के निर्माण में जो कुछ त्रुटियाँ छोड़ रखी थीं, उनका सुधार पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की अमर लेखनी के द्वारा हुआ। इन्होंने शुरू में कुछ किताबों का अनुवाद किया, जिससे इनको भाषा पर काफ़ी अधिकार हो गया। फिर इन्होंने 'सरस्वती' नाम की हिन्दी की प्रमुख पत्रिका का २० वर्ष तक सम्पादन किया। इसी पत्रिका के सम्पादन ने उन्हें गद्य-शैली के उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया। बीच बीच में उन्होंने बहुत से मौलिक निबंध भी लिखे, जिनका साहित्यिकों ने अच्छा सम्मान किया। इस सम्पादन-काल में उन्होंने हिंदी गद्य-शैली को सदा के लिये एक निश्चित रूप दे दिया। अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में समय समय पर अपने भाषा-विषयक सिद्धांतों का समर्थन करते रहते थे। उनके इन सिद्धान्तों के सूक्ष्म वर्णन देने के आरम्भ ही में यह कह देना उचित होगा कि उनका मूलमंत्र यह था कि भाषा को किसी भी अवस्था में ऐसा रूप देना उचित नहीं कि बिना माथापच्ची किये सरलता से समझ में न आवे। इन सम्बन्ध में 'हिन्दी-भाषा का इतिहास' शीर्षक लेख में वे कहते हैं:—

"हिन्दी में एक बड़ा भारी दोष इस समय यह घुस रहा है कि उसमें अनावश्यक संस्कृत शब्दों की भरमार की जाती है।

इससे हिन्दी और उर्दू का अन्तर बढ़ता जाता है। जिन अखबारों और पुस्तकों की भाषा सरल होती है, उनका प्रचार भी ज़ोरों से होता है; इसका अफ़सोस है। संस्कृत के कठिन तत्सम शब्द क्यों लिखे जायँ? 'घर' शब्द क्या बुरा है, जो 'गृह' लिखा जाय? 'क़लम' क्या बुरा है, जो 'लेखनी' लिखा जाय? 'ऊँचा' क्या बुरा है, जो 'उच्च' लिखा जाय?"

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी जी प्रसाद-गुण के कितने बड़े पक्षपाती हैं।

यद्यपि कभी कभी उनकी भाषा में भी संस्कृत तत्समों की खासी बहार देखने में आती है, पर ऐसा तभी होता है, जब उन्हें किसी गहन या नवीन विषय पर अपने गंभीर विचार प्रगट करने पड़ते हैं। हास्य और व्यङ्ग, जिनको हिन्दी गद्य में पहले पहल स्थान आर्यसमाजी मतप्रचारकों के द्वारा मिला और जिनको भारतेंदु के बाद पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा पं० बाल-कृष्ण भट्ट ने विशेष रूप से अपनाया, इस समय द्विवेदी जी के हाथ में पड़कर और भी मँज गये। वे हास्य और व्यङ्ग का उपयोग एक उच्चकोटि के कलाकार की भाँति करते हैं। उनके व्यङ्ग तथा हास्य में कभी भी अश्लीलता नहीं आने पाती तथा उनका प्रयोग केवल मनोविनोद ही की दृष्टि से नहीं किया जाता, वरन् पाठकों में किसी अभीप्सित भाव को सुचारु रूप से उत्पन्न करने के लिये होता है। द्विवेदी जी समालोचना-क्षेत्र में भी बड़ा ऊँचा स्थान रखते हैं। जब कभी उन्हें किसी ऐसे लेखक की ख़बर लेनी होती है, जिसके द्वारा उनके साहित्यिक अथवा भाषा-सम्बन्धी

सिद्धांतों को हानि पहुँचती हो तब उनके यही हास्य और व्यङ्ग चुभते हुए तीरों का काम करते हैं। वे शब्द-संग्रह में बड़ी उदारता से काम लेते हैं। विदेशी शब्दों के व्यवहार में, जहाँ उनका प्रयोग अत्युत्तम जँचता हो, वे ज़रा भी नहीं हिचकते। अरबी, फ़ारसी, उर्दू, अङ्गरेज़ी चाहे जिस भाषा का शब्द हो, यदि उससे अच्छा शब्द उनके हिन्दी शब्द-भण्डार में नहीं मिला तो उसके प्रयोग में किसी प्रकार अनौचित्य या दोष नहीं समझते। क़रीब क़रीब ऐसा ही पं० बालकृष्ण भट्ट भी सोचते थे।

इन बातों के अतिरिक्त वे भाषा को व्याकरण तथा विराम-चिन्ह के नियमों की दृष्टि से भी हर तरह से शुद्ध रखने का हमेशा ख़याल रखते थे। पिछले लेखकों ने इन बातों का बहुत थोड़ा ध्यान रखा था। वर्ण-विन्यास (spelling) और विराम चिन्हों के बारे में अब तक कोई निश्चित व्यवस्था नहीं हो पाई थी। आज भी कुछ शब्दों की स्पेलिंग तथा लिङ्ग-निर्णय के विषय में साहित्यिकों में ख़ासा मत-भेद है। प्रत्येक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में ये प्रश्न 'पेश' होते हैं, पर हमेशा के लिये कोई बात तय नहीं हो पाती, बस हो हल्ला मचकर रह जाता है। इस साल दिवाली पर गोरखपुर में होनेवाले साहित्य-सम्मेलन के सभापति बनाने के लिये लोग द्विवेदी जी का नाम बहुत सरगर्मी से ले रहे हैं। यद्यपि आजकल उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है तो भी यदि उन्होंने अपना भाषण ही लिखकर भेज दिया (जैसा कि कुछ लोग कह रहे हैं) तो इसमें कोई संदेह नहीं कि द्विवेदी जी इन प्रश्नों पर सिद्धान्त रूप से काफ़ी प्रकाश डालेंगे और कोई

न कोई रास्ता सदा के लिये स्थिर कर देने की चेष्टा करेंगे। द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादन-काल ही में समय समय पर इन संदिग्ध प्रश्नों पर अपनी सम्मति देते रहे हैं; पर हमारे साहित्यिक क्षेत्र में बहुत से ऐसे महाशय भी हैं, जिन्हें दूसरों की युक्तियों के विरोध करने में ही अपने पाण्डित्य का साफल्य जान पड़ता है। जो हो, द्विवेदी जी ने अपने साहित्यिक विरोधियों तथा कड़ुवे समालोचकों की कभी विशेष चिंता न की और सदा उनका मुँह-तोड़ जवाब देते रहे। अंत में यह हुआ कि वे धीरे धीरे इन संदिग्ध विषयों में प्रमाण माने जाने लगे। उनके द्वारा प्रचलित विराम-चिन्हों तथा व्याकरण और स्पेलिंग के नियमों का अब प्रायः सभी लेखक ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से अनुसरण कर रहे हैं। भाषा को व्याकरण की रीति से शुद्ध तथा उसे बाह्य रूप में सर्वांग सुंदर बनाने के लिये द्विवेदी जी का नाम हिन्दी-भाषा-साहित्य में अमर रहेगा। द्विवेदी जी जब से व्याकरण की ओर हिन्दी जनता का ध्यान आकृष्ट करने लगे तब से और पत्रों में भी व्याकरण तथा भाषा की शुद्धता-विषयक चर्चा होती रही है। विभक्तियों को शब्दों से मिलाकर लिखी जानी चाहिये अथवा अलग, इस प्रश्न को लेकर कुछ दिनों तक विद्वानों में खासा वादाविवाद चलता रहा। हिन्दी गद्य के बाण भट्ट पं० गोविंद नारायण मिश्र इस आन्दोलन के अग्रणी थे। इन्होंने 'विभक्ति-विचार' नाम की एक पुस्तक ही इस विषय पर लिख डाली। उक्त पुस्तक में इन्होंने हिन्दी की विभक्तियों को शुद्ध विभक्तियाँ सिद्ध कीं और उन्हें शब्दों से मिलाकर लिखने की सलाह दी।

न कोई रास्ता सदा के लिये स्थिर कर देने की चेष्टा करेंगे। द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादन-काल ही में समय समय पर इन संदिग्ध प्रश्नों पर अपनी सम्मति देते रहे हैं; पर हमारे साहित्यिक क्षेत्र में बहुत से ऐसे महाशय भी हैं, जिन्हें दूसरों को युक्तियों के विरोध करने में ही अपने पाण्डित्य का साफल्य जान पड़ता है। जो हो, द्विवेदी जी ने अपने साहित्यिक विरोधियों तथा कड़ुवे समालोचकों की कभी विशेष चिंता न की और सदा उनका मुँह-तोड़ जवाब देते रहे। अंत में यह हुआ कि वे धीरे धीरे इन संदिग्ध विषयों में प्रमाण माने जाने लगे। उनके द्वारा प्रचलित विराम-चिन्हों तथा व्याकरण और स्पेलिंग के नियमों का अब प्रायः सभी लेखक ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से अनुसरण कर रहे हैं। भाषा को व्याकरण की रीति से शुद्ध तथा उसे बाह्य रूप में सर्वांग सुंदर बनाने के लिये द्विवेदी जी का नाम हिन्दी-भाषा-साहित्य में अमर रहेगा। द्विवेदी जी जब से व्याकरण की ओर हिन्दी जनता का ध्यान आकृष्ट करने लगे तब से और पत्रों में भी व्याकरण तथा भाषा की शुद्धता-विषयक चर्चा होती रही है। विभक्तियों को शब्दों से मिलाकर लिखी जानी चाहिये अथवा अलग, इस प्रश्न को लेकर कुछ दिनों तक विद्वानों में खासा वादाविवाद चलता रहा। हिन्दी गद्य के वाण भट्ट पं० गोविंद नारायण मिश्र इस आन्दोलन के अग्रणी थे। इन्होंने 'विभक्ति-विचार' नाम की एक पुस्तक ही इस विषय पर लिख डाली। उक्त पुस्तक में इन्होंने हिन्दी की विभक्तियों को शुद्ध विभक्तियाँ सिद्ध कीं और उन्हें शब्दों से मिलाकर लिखने की सलाह दी।

हिन्दी के वाह्य रूप को सुचारु बनाने के अतिरिक्त द्विवेदी जी का कार्य शैली-निर्माण के सम्बन्ध में भी कुछ कम महत्त्व का नहीं है। द्विवेदी जी यों तो विषय के अनुसार अपनी शैली सदा बदलते रहते थे, पर उनकी मुख्य शैली, जिसमें उन्होंने अपने अधिकतर ग्रंथ लिखे हैं, वही मिश्र शैली है, जिसके बारे में ऊपर कुछ कहा जा चुका है। इसमें विदेशी शब्दों का, यदि वे घरेलू शब्द हो गये हैं, केवल विदेशी होने ही की वजह से वहिष्कार नहीं किया जाता, कठिन संस्कृत के तत्सम शब्दों का, यदि नित्य की बोल-चाल में उनके पर्याय वाची शब्द मिलते हों, निश्चित रूप से वहिष्कार किया जाता है, क्योंकि इससे भाषा दुरूह हो जाती है। कुछ लोगों की साहित्यिक रुचि (अथवा कुरुचि) ऐसी बिगड़ सी जाती है कि बिना संस्कृत के बड़े बड़े लच्छेदार शब्द तथा कहीं कही मुहाविरे या कहावतें (जैसे—'किमधिकं विज्ञेषु' 'मुख्यत:', 'स्पष्टत:', 'अधिक रूपेण' इत्यादि) भरे सन्तोष ही नहीं होता। बिना ऐसा किये वे अपनी भाषा को साहित्यिक समझते ही नहीं। द्विवेदी जी की इस शैली में हास्य और व्यङ्ग तथा कभी कभी ग्रामीण मुहाविरों की भी कमी नहीं रहती थी। उनकी दूसरी प्रकार की शैली, जो प्राय: सरस्वती के अग्रलेखों में देखने को आती थी, उनकी मुख्य शैली ही की एक शाखा मात्र है। इसमें हास्य तथा व्यङ्ग की मात्रा और अधिक परिमाण में घोली जाती है तथा भाषा बहुत ही चुभती हुई और लोचदार हो जाती है। एक तीसरी प्रकार की शैली, जिसका प्रयोग द्विवेदी जी प्राय: करते हैं, ऊपर की दोनों शैलियों से बिलकुल भिन्न होती है। यह प्राय: संस्कृत

शब्दों से भरी हुई होती है और वाक्य अपेक्षाकृत अधिक बड़े बड़े होते हैं; पर भाषा इसमें भी दुरूह नहीं होने पाती। इस शैली का प्रयोग द्विवेदी जी उस समय करते हैं, जब वे किसी नये और गंभीर विषय पर लिखते हैं। इन तीनों ही प्रकार की शैलियों को लिखते समय उनका ध्यान इस बात की ओर सदा रहता था कि बहुत साधारण योग्यता रखनेवाले पाठक भी उनकी पंक्तियों को मज़े में समझ जायँ। उनके लेखों को पढ़ते समय कभी कभी ऐसा मालूम होता है कि लेखक ने शायद बड़ी मोटी अक़्लवालों ही के लिये लिखा है; परंतु अपने पांडित्य-प्रकाशन में वे कभी नहीं चूकते। कभी कभी वे श्लोक और शेर वग़ैरह भी रख देते हैं; परंतु यह सब बातें होते हुए भी उनके वाक्यों में वैसी विचार-पूर्णता नहीं है, जैसी कि चाहिये थी। थोड़े में विचारों को कूट कूटकर भर देने की शक्ति उनमें कम है। उनके वाक्यों को पढ़ने से ऐसा नहीं होता कि पाठक का दिमाग़ किसी नई विचार-धारा की ओर अग्रसर हो। उनके एक एक वाक्य तुले हुए होते हैं और नये भाव भी उनमें वैसे ही आ सकते हैं।

बदरीनारायण चौधरी "प्रेमघन"

प्रेमघन जी किसी भाव को सीधी भाषा में रख देने ही को 'लिखना' नहीं समझते थे। लिखना उनके लिये एक बड़ी भारी कला थी। उनकी शैली प्रायः सभी लेखकों से निराली होती है। गद्य लिखते समय कविता की सी 'कोमलकान्त' पदावली का समावेश करना उन्हीं का काम था। प्रत्येक

वाक्य को बिना कई बार परिमार्जित किये तथा प्रत्येक दृष्टि से उसे जितना सुन्दर वह बन सकता हो, उतना सुन्दर बनाये बिना वे प्रकाशन के लिये नहीं भेजते थे। यही वजह थी कि अन्य लेखकों को इतने थोड़े समय में इतना अधिक लिखते देख उन्हें बड़ा आश्चर्य होता था। यहाँ तक कि उन्होंने हरिश्चंद्र तक के उतावलेपन पर खेद प्रगट किया है। उनका सिद्धान्त यह था कि चाहे थोड़ा लिखा जाय; पर उत्तम लिखा जाय। यही कारण था कि जिस किसी वस्तु का भी वे वर्णन करते थे, उसका एक सजीव चित्र आँखों के सामने खड़ा कर देते थे। खास करके वर्षाकाल के दृश्यों के वर्णन तो उनके अद्वितीय होते थे। वे मिर्ज़ापुर ज़िले के रहनेवाले थे और बरसात में विंध्याचल के आस-पास प्रकृति, जो सुहावना रूप धारण करती है, उसे जिन्होंने एक बार देखा है, अच्छी तरह जानते हैं। प्रेमघन जी प्रायः टंडवा की दरी (Tonda fallo) के आस-पास आनंद करते थे। वे वर्षा-ऋतु के इतने प्रेमी हो गये थे कि 'पावस' को ही 'ऋतुराज' मानते थे न कि बसंत को। उनके पावस-वर्णन का एक नमूना देखिये—

"परिपूर्ण पावस"

"जैसे किसी देशाधीश के प्राप्त होने से देश का रंग-ढंग बदल जाता है तद्रूप पावस के आगमन से इस सारे संसार ने भी दूसरा रंग पकड़ा, भूमि हरी-भरी होकर नाना प्रकार की घासों से सुशोभित भई, मानों मारे मोद के रोमांच की अवस्था को

प्राप्त भई। सुंदर हरित् पत्रावलियों से भरित तरुगनों की सुहावनी लताएँ लिपट लिपट मानो मुग्ध मयङ्कमुखियों को अनुरागालिंगन की विधि बतलातीं। इनसे युक्त पर्वत-शृंगों के नीचे सुंदरी दरी समूह से स्वच्छ जल-प्रवाह ने मानो पारा की धारा और बिल्लौर की ढार को तुच्छ कर युगल पार्श्व की हरी भरी भूमि के, कि जो मारे हरेपन के श्यामता की झलक दे अलक की शोभा लाई है, बीच-बीच में माँग सी काढ़ मन माँग लिया और पत्थर की चट्टानों पर सुंबुल अर्थात् हंसराज की जटाओं का फैलना बिथरी हुई लटों के लावण्य का लाना है।

इस भाषा को ध्यान से देखने से मालूम हो जाता है कि यह शुद्ध खड़ी बोली नहीं है। शैली को सरस तथा कोमल रखने के लिये लेखक की वृत्ति कुछ-कुछ ब्रजभाषा की ओर झुकी हुई है। सुशोभित 'हुई' न लिखकर 'भई' 'तरुगणों के' स्थान पर 'तरुगनों' इत्यादि लिखते हैं। फिर कविता की तरह तुक का ध्यान भी कहीं-कहीं रखा जाता है; जैसे—सुशोभित भई, प्राप्त भई। भाषा की सजीवता बढ़ाने के लिये दोहरे शब्दों का प्रयोग ख़ूब किया गया है; जैसे—'रंग ढङ्ग', 'हरी-भरी' इत्यादि। फिर भाँति-भाँति के अनुप्रासों की तो भरमार है; जैसे—'सुन्दरी दरी', 'पारा की धारा', 'झलक दे अलक' 'लटों के लावण्य का लाना' इत्यादि। इनकी शैली में कहीं कहीं कादम्बरी के लेखक बाणभट्ट की याद आ जाती है; क्योंकि कहीं-कहीं प्रेमघन जी भी दो अर्थ रखनेवाले एक ही शब्द के दो जगह विभिन्न अर्थों में बड़ी ख़ूबसूरती से प्रयोग करते हैं, जैसे 'माँग सी काढ़ मन माँग

लिया।' वे अनुप्रासों और यमकों के बड़े शौक़ीन तो थे पर साथ ही भाव-व्यंजना में भी कम नहीं थे। उनके शब्दालङ्कार भाव के उत्कर्ष की हत्या करने के लिये नहीं, वरन् उनका और निखरा हुआ रूप ही पाठक के सामने रखते हैं, जैसे 'पारा की धारा' झरने के गिरते हुये स्फुटिक धवल जल की साम्यता 'पारा की धारा' के साथ अत्यन्त युक्तिसंगत मालूम होती है। हाँ कृत्रिमता अवश्य है उनकी शैली में जैसा कि प्रायः प्रत्येक भाषा के नामी शैली के कलाकारों में पाया जाता है—वाण भट्ट, स्टीवेन्-सन् (R. L. Stevensan) इत्यादि। इन्हीं प्रेमघन जी का ही बहुत कुछ ढङ्ग आगे चलकर पं० गोविंद नारायण मिश्र ने अप-नाया; पर उनके वाक्य इतने लम्बे हो गये और भाषा इतनी संस्कृत-पूर्ण हो गई के वे सोलहो आने हिंदी के वाणभट्ट बन बैठे। प्रेमघन जी भी कहीं-कहीं श्लेषात्मक लंबे समासों का व्यवहार करते हैं पर ऐसा नहीं कि उनसे जी ऊबने लगे। सारांश यह कि जैसे लखनऊवालों ने 'उर्दूए मुअल्ला लिखी' वैसे ही प्रेमघन जी ने 'हिन्दी-ए-मुअल्ला' लिखी। दोनों के भाषा-विषयक आदर्श प्रायः एक से थे।

'आनन्द कादम्बिनी' नाम की एक साहित्यिक पत्रिका प्रेम-घन जी भी निकालते रहे और उसमें ये विशेषतः अपने ही हृद-योद्‌गारों को रखते थे, अन्य लेखकों को विशेषतः नये लेखकों को बहुत कम स्थान मिलता था, यहाँ तक कि भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र को एक बार इन्हें फटकार बतानी पड़ी। कादम्बिनी में समाचार एक तो बहुत कम निकलते थे, पर जो निकलते थे

वे अखबारों की लट्ठमार भाषा में न होकर उनकी ऊँचे दर्जे की साहित्यिक भाषा में ही होते थे। एक छोटा सा नमूना देखिये—

"स्थानिक संवाद—

दिव्य देवी श्री महाराणी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्य्यन्त बड़े बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल अचल कोर्ट का पहाड़ ढकेल, फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी क्या खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेल पेल और कभी उसी पर सुख की कुलेल है।"

इस वाक्य में 'झेल' शब्दों का तुक मिलाने के लिये, 'सकेल,' 'कुलेल,' 'ढकेल, 'रेलपेल' आदि शब्दों के अनुसन्धान करने तथा भाव के अनुसार उन्हें यथास्थान बैठालने में लेखक को अवश्य कुछ न कुछ देर तक कष्ट-कल्पना करनी पड़ी होगी इसको सभी मानेंगे; इसी भाव को वे साधारण रूप से बिना किसी प्रकार की दिमाग़ी कसरत के प्रगट कर सकते थे, पर अपनी-अपनी साहित्यिक रुचि ही तो है। उनको भाषा को यथासंभव तथा यथाशक्ति अलंकृत किये बिना संतोष ही नहीं होता था। अंगरेज़ी में जिस प्रकार की शैली को अलंकृत (Picturesque) कहते हैं, वह यदि हिन्दी में किसी की लेखनी में आई है तो प्रेमघन जी की ही लेखनी में।

प्रेमघन जी समालोचना भी बड़ी चुभती हुई भाषा में करते थे। नये ग्रन्थों की पत्र-पत्रिकाओं में समालोचना करने की प्रथा के आदि विधाता ये ही महाशय थे। लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयम्वर' की बड़ी उग्र समालोचना उन्होंने अपनी

कादम्बिनी में की थी। बाबू गदाधरसिंह के 'वंग-विजेता' के अनुवाद की भी उन्होंने अच्छी खबर ली थी। साहित्यिक समालोचना प्रेमघन से ही निकली। वे साहित्यिक ख़ूबियों तथा गुण दोष का निरूपण बड़ी उत्तम रीति से करते थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि ये थे तो हिन्दी साहित्य के आदि समालोचक पर उनके टक्कर की उच्च कोटि की साहित्यिक समालोचना (Litrary Criticism) लिखनेवाले आज भी शायद ही मिलें।

उनका वास्तविक साहित्यिक स्थान पद्य में है और उच्चकोटि के कवि होने के कारण ही वे इतना सरस गद्य लिखने में समर्थ हुए। उन्होंने 'भारत-सौभाग्य' तथा "वारांगना-रहस्य" (अधूरा) ये दो नाटक भी लिखे, पर इनमें उनको वैसी सफलता नहीं मिली।

पं० गोबिन्द नारायण मिश्र (१८५९-१९२३)

पं० गोविन्द नारायण मिश्र का जन्म संस्कृत के खान्दानी विद्वानों के कुल में हुआ था तथा ये स्वयं भी संस्कृत के अच्छे विद्वान थे, पर ये कोरे संस्कृत के ही पंडित नहीं थे हिन्दी साहित्य के, विशेषतः व्रजभाषा के बड़े मर्मज्ञ थे। ये सारस्वत ब्राह्मण थे और खत्रियों के गुरु थे। बहुत अमीर खत्री इनके शिष्य और प्रेमी (Patrons) थे और इन्हीं लोगों की बदौलत इन्हें जीविका के लिये कोई स्वतंत्र कार्य करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई और ये सदा साहित्य के आनन्द में ही मग्न रहे। इनकी जन्म-भूमि तो पंजाब प्रान्त के अमृतसर जिले में हुई थी, पर इनके दिन ज्यादातर कलकत्ते में ही कटे। शेष दिनों वे काशी वास करने लग गये थे।

इनके भाषा-विषयक सिद्धान्त शुद्धिवादियों से थे। इनकी शैली स्वभावतः प्राचीन (Classical) थी। ये सरल भाषा भी कभी-कभी लिखते थे और लिख सकते थे, पर उसमें इनके पाण्डित्य-पूर्ण चित्त को सन्तोष न होता था। इनकी लेखनी से निकले हुये मिश्रित भाषा के नमूने इनकी 'आत्मा राम की टेंटें' शीर्षक लेखमाला में मिलते हैं। अन्यत्र इनकी भाषा बड़ी ही प्रौढ़, ओजस्विनी तथा गठी हुई है। लम्बे समास, बड़े-बड़े वाक्य तथा अनुप्रास और यमकों की लय से विभूषित भाषा लिखने में ये हिन्दी साहित्य में अपना सानी नहीं रखते। इनका बहुत दिनों से यह विचार था कि 'बाण' की 'कादम्बरी' के ढङ्ग का एक वृहत् गद्य-काव्य लिखें और इसी उद्देश्य से उन्होंने 'कवि और चित्रकार' शीर्षक कई छोटे-छोटे लेख लिखे पर उन्हें पूरा न कर पाये। बात यह थी कि बड़ी ही रसिक प्रकृति के तो ये थे ही साथ ही आराम तलब भी बहुत थे। गङ्गा-सेवी एक ही थे। दो बजे दोपहर को इनकी स्नान-पूजा समाप्त होती थी, फिर भोजन कर थोड़ा सा आराम करते थे। इतने में शाम हो जाती थी। इन्हीं कारणों से यह बहुत थोड़ा लिख पाये। इनकी प्रतिभा, कल्पना-शक्ति, अक्षय शब्द-भाण्डार तथा भावुकता आदि में किसी को संदेह नहीं हो सकता, पर इन शक्तियों के असाधारण परिमाण में रखते हुए भी वे हिंदी-साहित्य की उतनी सेवा न कर सके, जितनी कि उनके ऐसे मनुष्य से आशा की जा सकती थी, यह हिंदी के लिये बड़े दुर्भाग्य की बात है। इसी अल्हड़पने के कारण बहुत से हिंदी के प्रतिभावान् लेखक मातृ-भाषा की यथोचित रूप से सेवा न कर सके।

मिश्र जी के ग्रंथों में दो बहुत प्रसिद्ध हैं--एक तो 'सारस्वत-सर्वस्व' दूसरा 'विभक्ति-विचार'। हरिश्चंद्र के 'वैष्णव-सर्वस्व' की तरह इनके 'सारस्वत-सर्वस्व' में भी सारस्वत ब्राह्मणों की महिमा गाई गई है। यह ग्रंथ-साहित्य से उतना संबंध नहीं रखता, जितना मत-मतांतरों से। दूसरा ग्रंथ व्याकरण की दृष्टि से कुछ महत्व का है। इसमें इन्होंने सिद्ध किया है कि भाषा की विभक्तियाँ संयुक्त विभक्तियाँ (Synthetical) हैं और इनको शब्द से भिन्न रूप (Analytical) में व्यवहार करना भूल है; पर इनकी युक्तियों का कुछ विशेष आदर भाषा-तत्व-मर्मज्ञों ने नहीं किया और यद्यपि यह बात अभी तक पूर्ण रूप से तय नहीं हो पाई है, पर इस बात को प्रायः सभी भाषा-तत्वज्ञ जानते हैं कि भारत की आधुनिक भाषायें अब संयोगावस्था (Synthetical stage) में नहीं हैं और प्रायः सभी आधुनिक लेखक विभक्तियों अथवा कारक-चिह्नों (Post-positions) को मूल शब्दों से स्वतंत्र रखना ही समीचीन समझते हैं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की भी यही राय है। असल बात तो यह है कि द्विवेदी जी जब 'सरस्वती' में व्याकरण की अशुद्धियों पर लेखकों तथा पबलिक का ध्यान आकृष्ट करने लगे तभी मिश्र जी को भी सूझी कि व्याकरण के सम्बन्ध में कोई नई बात जनता के संमुख रक्खें, जो द्विवेदी जी को भी न सूझी हो। उस समय व्याकरण-संबंधी सुधारों तथा वादाविवादों की एक लहर सी हिंदी-संसार में उठ रही थी और बहुत से विद्वानों ने अपने-अपने राग अलापे। इससे यद्यपि कोई बात स्थायी रूप से स्थिर होनी

असंभव थी; पर इतना अवश्य हुआ कि लेखक-समुदाय व्याकरण के विषय में बहुत सतर्क हो गया। अब मिश्र जी के गद्य के नमूने के लिये उनका एक वाक्य नीचे दिया जाता है:—

"सरदपूनों के समुदाय पूरनचंद की छिटकी जुन्हाई सकल मन भाई के भी मुँह मसि मल, पूजनीय अलौकिक पदनखचंद्रिका की चमक के आगे तेजहीन, मलीन और कलङ्कित कर दरसाती, लजाती, सरस सुधा धौली अलौकिक सुप्रभा फैलाती अशेष मेह जड़ता प्रगाढ़ तमतोम सटकाती मुकाती निज भक्त-जनमन वांछित वराभय मुक्तिमुक्ति सुचारु चारों मुक्त हाथों से मुक्ति लुटाती, सकल-कला आलाप कल-कलित सुललित सुरीली मोड़ गमक झनकार-सुतार-तार सुरग्राम अभिराम लसित बीन-प्रवीन पुस्तकाकलित मखमल से समधिक सुकोमल अति सुंदर सुविमल लाल प्रवाल से लाल लाल कर पल्लवल्लव सुहाती विविध विद्या-विज्ञान सुभ-सौरभ सरसाते विकसे फूले सुमन प्रकाश हास-बास बसे अनायास सुगंधित सित बसन, लसन सोहा सुप्रभा विकसाती सुविमल मानस बिहारी मुक्ताहारी नीरक्षीर विचार सुचतुर कवि कोविद राजराज हिय-सिंहासन निवासिनी मंदहासिनी बिलोक प्रकासिनी सरस्वती माता के अति दुलारे प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम अनोखी अतुल बलवाली परम प्रभावशाली सुजन मनमोहिनी नव-रस भरी सरस सुखद विचित्र वचन रचना का नाम ही साहित्य है।"

यह मिश्र जी का एक वाक्य है। इस भाषा में और शुद्ध संस्कृत में बहुत थोड़ा सा (केवल विभक्तियों या कारक-चिह्नों

का) फ़र्क़ है। ठेठ हिंदी के शब्द ढूँढ़ने पर कहीं एकाध दिखाई पड़ जाते हैं। वाक्य-रचना तथा पद-विन्यास बिलकुल बाणभट्ट की भाँति है। वही लम्बे-लम्बे समास, अनुप्रासों और यमकालङ्कारों की अभूतपूर्व छटा, विशेषणों की भरमार, उपमाओं की अनुपम सूझ, वाक्य की चाल में पद्य का सामंजस्य और संगीत की सी लयदारी सब बातें नहीं हैं। तुक की भरमार तो इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि लल्लू लाल जी की प्रेमसागर की रचना भी इसके सामने झख मारे। तुक तथा अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारों से श्रुति मधुरता उत्पन्न करने के लिये, जैसे शब्द लेखक ने रखे हैं, उनसे मालूम होता है कि लेखक को उनके संचय में बड़ा मानसिक श्रम करना पड़ा होगा। यद्यपि इस तरह की शैली भाषा में नवीनता के पक्षपातियों को बहुत भद्दी तथा भारी जँचैगी पर ऐसी शैली पर अधिकार असाधारण साहित्यिक क्षमता का परिचय देता है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि ऐसी शैली का प्रचार करना भाषा के स्रोत को उलटा बहाना है और भाषा के विकास को रोकने का सबसे अच्छा तरीक़ा है, पर हरएक भाषा के साहित्य में दो एक इस भाँति के लेखक उत्पन्न हो ही जाते हैं। वे सबसे निराले रहते हैं और आगे के नये लेखकों में से कोई उनके शैली की नक़ल करने की चेष्टा नहीं करता और कर सकता भी नहीं। यद्यपि ऐसे लोगों की शैली पर अधिकार प्राप्त करना किसी के लिये भी बड़ा कठिन है, पर किसी को ऐसी शैली की नक़ल करने की चेष्टा भी न करनी चाहिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मिश्र

जी ने इतना कर दिखाया कि हिन्दी में भी वाणभट्ट की सी शैली संभव है। दोहरे अर्थों वाले लम्बे-लम्बे रूपकों को बाँधते चले जाना तथा विरोधाभास-युक्त शब्दों को जड़ते चले जाना जो कि बाणभट्ट की विशेषतायें हैं, मिश्र जी के गद्य में भी बराबर दृष्टि गोचर होते हैं।

मिश्र जी और प्रेमघन जी दोनों ही का स्थान शैली की विचित्रता ही के कारण हिन्दी गद्य के इतिहास में सबसे निराला है। प्रेमघन जी कभी-कभी तो ऐसे टेढ़े मज़मून बाँधते थे कि देखते ही रह जाना पड़ता है। यही हाल मिश्र जी का भी है पर फ़र्क केवल इतना है कि मिश्र जी का गद्य बहुत अधिक पाण्डित्य-पूर्ण हो जाता है और इनके वाक्यों को भली भाँति समझना भी साधारण योग्यता के मनुष्य का काम नहीं; संस्कृत के अच्छे ज्ञान तथा कादम्बरी पढ़ा हुआ होना चाहिये पर प्रेमघन जी ने शायद वाणभट्ट या और ही किसी को आदर्श नहीं माना था, वे सबसे निराले थे। उनके वाक्यों को पढ़ते समय पाठक को क्लिष्टता या दुरूहता का अनुभव नहीं होता बल्कि एक प्रकार का अपूर्व साहित्यिक आनन्द छा जाता है और पग-पग पर दिल में गुदगुदी सी उठती मालूम होने लगती है।

अब हम आगे एक ऐसे संस्कृत-प्रेमी हिन्दी लेखक का परिचय देंगे, जिन्होंने उर्दू-फ़ारसी के हिन्दी में प्रचलित शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत के प्रकृति-प्रत्ययों से निकालने का हास्यजनक प्रयत्न किया था।

पं० भीमसेन शर्मा

पं० भीम सेन शर्मा ने भाषा में विशुद्धिवादिता की जड़ ही खोद डाली। ये थे तो असल में एक धर्मोपदेशक और मत-प्रचारक बल्कि यों कहना चाहिये कि ये प्रसिद्ध मतप्रवर्तक स्वामी दयानन्द के हाथ के चाबुक थे। इनके धर्म पर बड़े गम्भीर भाषण हुआ करते थे। एक तो ये संस्कृत के पूरे विद्वान थे दूसरे साम्प्रदायिक भावों से भरे हुए थे। इस वजह से ये यवन या यावनी भाषा सभी के घोर विरोधी हो गये थे।

अपनी देववाणी में किसी भी म्लेच्छ शब्दों का दिखाई पड़ना इन्हें असह्य हो जाता था। सभी जगह, जहाँ जहाँ इनके भाषण होते थे, वे इस बात पर बड़ा जोर देते थे कि लोग हिन्दी में उर्दू या फ़ारसी शब्दों का पूर्ण रूप से बहिष्कार करने और उनके स्थान पर यदि ठेठ हिन्दी के शब्द न मिलते हों तो आँख मूँद कर शुद्ध संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करने की सलाह देते थे; पर मुश्किल वहाँ होती थी, जहाँ इन्हें ऐसे बिदेशी शब्द मिलते थे जो ऐसे घुस पड़े थे कि निकलने का नाम ही न लेते थे। उनके लिये शर्मा जी ने एक बड़ा अनोखा उपाय निकाला, उन्हें संस्कृत के साँचे में ढालने लगे। अरबी-फ़ारसी के जिन शब्दों को उन्हें मिलाना होता था, उनके समान या उनसे मिलते-जुलते उच्चारण वाले तथा ऐसे ही कुछ मिलते-जुलते अर्थ रखनेवाले संस्कृत शब्दों या प्रत्ययों को खोज निकालते थे और कुछ थोड़ा सा रूपान्तर कर प्रकृत शब्द के स्थान में उसी का बेधड़क उपयोग

को दु:शमन, 'चश्मा' को 'चदमा' इत्यादि। यद्यपि इन शब्दों को वे व्याकरण की रीति से शुद्ध सिद्ध करने का भी दम भरते थे, पर और लोगों ने उनकी इस गढ़न्त प्रवृत्ति को सिर्फ़ उनकी सनक भर समझा और किसी ने ऐसा करना उचित नहीं समझा। परन्तु शर्म्मा जी ने अपने विरोधियों की कभी परवाह न की और भाषा विषयक अपने इस अद्भुत सिद्धान्त से ज़रा भी कभी विचलित नहीं हुए। वे एक जगह कहते हैं:—

"जो जाति स्वतन्त्र भाषा का अभिमान रखती हो......उस जाति के लिये अपनी भाषा को खिचड़ी बनाने की शैली उपयुक्त नहीं कही जा सकती"।

इस वाक्य से स्पष्ट प्रगट होता है कि वे मिश्रित शैली के कितने कट्टर विरोधी थे। उनके समय के कुछ क्या प्रायः सभी बड़े-बड़े लेखक मिश्रित शैली का ही अनुमोदन करते थे, एक पं० गोविन्द नारायण मिश्र ऐसे थे, जो अत्यन्त संस्कृत-पूर्ण हिन्दी लिखते थे; पर 'शिक्षायत्न' ऐसे प्रयोग मिश्र जी को भी हास्यास्पद प्रतीत होते थे; पर भीमसेन जी अपनी धुन के बड़े पक्के थे। जिस बात पर अड़ जाते थे, उसका अन्त तक निर्वाह करते थे। संस्कृत शब्दों के इतने कट्टर पक्षपाती थे और मिश्रित भाषा के ऐसे घोर विरोधी थे कि एक जगह उन्होंने और कहा है :—

"संस्कृत भाषा के अक्षय भण्डार में शब्दों की न्यूनता नहीं है। हमको चाहिये कि अपनी भाषा की पूर्ति संस्कृत के सहारे से यथोचित करें। जिन लोगों को जिन विशेष प्रचलित अन्य

भाषान्तर्गत शब्दों के स्थान में उनसे सर्वथा भिन्न संस्कृत शब्दों का व्यवहार करने की रुचि नहीं है तो उसी से मिलते हुए संस्कृत शब्दों का वहाँ प्रयोग करना चाहिये"।

ये 'दुश्शमन' तथा 'क्षिप्राशिष्' (सिफ़ारिश) आदि शब्द 'उसी से मिलते हुए' संस्कृत शब्दों के नमूने हैं। 'साहब' शब्द की व्युत्पत्ति वे इस प्रकार करते थे—"आहवेन सहे वर्तते सत्सम्बन्धे तन्निर्णयाय यः प्रवर्तते स साहवः"।

जो हो इतना अवश्य है कि हिन्दी के शब्द-भण्डार की वृद्धि के लिये शर्म्मा जी ने एक बड़ी दिलचस्प जाँच (Experiment) की थी और सिद्धान्त रूप से इस बात पर हमेशा ज़ोर देते रहे कि जिन भावों को व्यक्त करने के लिये हिन्दी में प्रचलित शब्द नहीं मिलते, उनके लिये नये शब्द संस्कृत या तो बने-बनाये ले लिये जायँ और न हो तो नये गढ़ लिये जायँ, और यदि इन गढ़े हुए शब्दों से भी मतलब ठीक न निकले तो जिन विदेशी शब्दों से मतलब निकलता रहा हो, उनसे मिलते-जुलते शब्द गढ़ लिये जायँ, जिनके कि नमूने हम ऊपर देख चुके हैं। पर किसी भी अवस्था में देववाणी की दुहिता हिन्दी के शुद्ध शब्दों का सहवास म्लेच्छ भाषा के अस्पृश्य शब्दों के साथ देखने को तैयार नहीं थे। इससे भाषा के भ्रष्ट हो जाने की आशंका थी।

पं० भीमसेन जी भाषा के इने-गिने कुछ उन अज्ञात सेवियों में से हैं, जिनके साहित्यिक कार्य का अभी तक ठीक ठीक पता नहीं लग पाया है, इसका कारण यह है कि वे यावज्जीवन

धार्मिक आन्दोलनों में ही व्यस्त रहे। उन्होंने जो कुछ साहित्यिक सेवा की, वह भी धार्मिक वातावरण के अन्दर ही अन्दर रहते हुए। पहले तो ये बहुत दिनों तक स्वामी दयानन्द के दाहिने हाथ से रहे और स्वामी जी अपना मन्तव्य अधिकतर इन्हीं से लिखवाते थे; पर कुछ दिनों बाद ये किसी कारण-वश आर्यसमाज के घोर विरोधी हो उठे और कट्टर सनातनी हो गये और अन्त तक सनातन धर्म्म का प्रचार और आर्यसमाज का विरोध करते रहे। कई वर्ष तक वे प्रयाग से 'प्रयाग समाचार' नामक पत्र निकालते रहे। बाद में उन्होंने इटावा से 'ब्राह्मण सर्वस्व' नामक सनातन-धर्म्मी पत्रिका निकालनी आरम्भ की। इसका उद्देश्य धार्मिक था। शर्म्मा जी कोरे संस्कृतज्ञ ही न थे। संस्कृत के विद्वान होते हुए अपनी विद्वत्ता से हिन्दी के माध्यम के द्वारा जन-समुदाय की सेवा करना आर्यसमाज के ही कुछ विद्वानों में पाया जाता है और शर्म्मा जी उनमें से अन्यतम थे।

बा० बालमुकुन्द गुप्त
१८६३—१९०७

गुप्त जी शुरू में उर्दू के लेखक थे और सन् १८८९ ई० तक 'कोहेनूर' 'अवधपंच' आदि उर्दू पत्रों में ही लिखते रहे और उर्दू में उनका अधिकार एक बहुत ही लचीली और मँजी हुई शैली पर हो गया था। बाद में पं० मदन मोहन मालवीय और पं० प्रताप नारायण मिश्र आदि के प्रभाव में आकर उन्होंने हिन्दी में लिखने का अभ्यास डाला और थोड़े ही समय में हिन्दी पर भी इनका वैसा ही अधिकार हो गया, जैसा पहले उर्दू पर

था। शैली तो इनकी मँजी हुई थी ही और साहित्यिक प्रतिभा की भी कमी न थी, इनको सिर्फ़ यही करना था कि उर्दू-फ़ारसी के कठिन शब्दों के स्थान पर मामूली बोल-चाल के शब्दों को रख दें और इसे उन्होंने बहुत ही सुचारु रूप से किया।

गुप्त जी को जो स्थान हिन्दी गद्य के प्रधान सुलेखकों, बल्कि गद्य-निर्म्माताओं में दिया जाता है, वह उनकी शैली के एक मुख्य गुण के कारण। वह मुख्य गुण है, उनका व्यङ्ग कौशल तथा उक्तिवैचित्र्य। इन्होंने, हास्य तथा व्यङ्ग की एक नई ही शैली की सृष्टि की। आजकल 'मतवाला' 'हिन्दूपंच' आदि विनोद-पूर्ण पत्रों में जो चुभते हुए मीठी चुटकी लेनेवाले लेख और 'चुटकुले' आदि रहते हैं, उसके जन्मदाता गुप्त जी कहे जा सकते हैं। यों तो गद्य साहित्य में तीक्ष्ण व्यङ्गोक्तियों को घुसेड़ने का श्रेय धार्मिक मत प्रचारकों को प्राप्त है। इनको अपने विपक्षियों को 'मुँहकी खिलाने' के लिये चुटीले परिहासपूर्ण व्यङ्गों की आवश्यकता होती थी; पर गुप्तजी ने व्यङ्गोक्तियों को एक 'ख़ास तरीक़े' से प्रगट करने की रीति निकाली। जिस किसी को बनाना हो, उसका एक कल्पित नाम रख लेना तथा स्वयं (लेखक) लिखते समय किसी नशे के प्रभाव में रहने का आश्रय निकाल लेना, इस युक्ति का शायद पहले पहल गुप्तजी ने ही साहित्यिक संस्कार किया। इस युक्ति की आवश्यकता यों पड़ी। प्रजा को दिन-दिन शासकों से तथा उनके प्रतिनिधियों से असन्तोष बढ़ता जाता था, इसके कारण चाहे यथार्थ अथवा कल्पित

जो कुछ भी रहे हों, उनके यहाँ निरूपण करने का स्थान नहीं है; पर असन्तोष अवश्य बढ़ता जा रहा था, यह सभी जानते हैं। अधिकारियों की खुल्लमखुल्ला निन्दा करने का साहस किसी लेखक को न होता था, क्योंकि जो यह दुस्साहस करते थे उन्हें प्रेस ऐक्ट की धाराओं का सामना करना पड़ जाता था साथ ही पत्र तो बन्द होता ही था और सम्पादकों तथा प्रकाशकों को जुर्माने और बड़े घर की हवा खाने का भय हर घड़ी लगा रहता था। पर कुछ न कुछ लिखना सो भी लोकमत के अनुसार, आवश्यक था; अतः इस प्रकार लिखने की युक्ति सोच निकालनी पड़ी जिससे प्रेस ऐक्ट के चंगुल में भी न पड़ना पड़े और जो कुछ कहना हो वह भी इस तरह से कह डाला जाय कि समझनेवाले समझ भी जायँ। इसके लिये लेखक को किसी एक ऐसी कल्पित पुरुष की आड़ लेनी पड़ती थी जिसका मस्तिष्क किसी कारण विशेषतः किसी नशे के प्रभाव से, विकारावस्था को प्राप्त हो गया हो। यह पुरुष नशे की तरंग में बहुत कुछ 'बहक' जाता है। प्रत्यक्ष तो उसका वक्तव्य उन्मत्त के प्रलाप की भाँति प्रतीत होता है पर ध्यान से देखने से उसके वाक्यों से बड़ी ही विचित्र ध्वनि निकलती है। वे वाक्य जिसको लक्ष्य करके लिखे जाते हैं उसके हृदय में भाले का सा घाव करते हैं। जिसके ऊपर आक्रमण किया जाता है उसे भी किसी काल्पनिक आवरण से ढँक दिया जाता है। इससे यह होता है कि लेखक क़ानून के पंजे से बहुत नहीं तो कुछ अंशों तक अपने को सुरक्षित समझता है। एक छोटे से उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा :—

"नारंगी के रस में जाफ़रानी वसन्ती बूटी छानकर शिव शम्भु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनन्द ले रहे थे........ अचानक एक सुरीली गाने की आवाज़ ने चौंका दिया।......कान लगाकर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बार बार अमृत ढालने लगा :--

"चलो चलो आज खेलैं होरी हो कन्हैया घर।" कमरे से निकलकर बरामदे में खड़े हुए.........देखा बादल घिरे हुए हैं बिजली चमक रही है, रिमझिम झड़ी लगी हुई है। वसन्त में सावन देख अक्ल चक्कर में पड़ी। विचारने लगे गाने वाले को मलार गाना चाहिये था न कि होली। साथ ही ख्याल आया कि फागुन सुदी है, बसन्त के विकास का समय है, वह होली क्यों न गावे। इसमें तो गानेवाले की नहीं, विधि की भूल है।......... कहाँ तो चाँदनी छिटकी होती, निर्मल वायु बहती, कोयल की कूक सुनाई देती। कहाँ भादों की सी अँधियारी है, वर्षा की झड़ी लगी हुई है। आह! कैसा ऋतुविपर्यय है!

इस विचार को छोड़कर गीत के अर्थ का जी में विचार आया। होली खिलैया कहते हैं कि 'चलो-चलो आज कन्हैया के घर होली खेलैंगे! कन्हैया कौन? उनकी प्रजा ग्वाल-बाल। इस विचार ने शिवशम्भु शर्मा को और भी चौंका दिया कि ऐं क्या भारत में ऐसा समय भी था, जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे और राजा-प्रजा मिल-कर आनन्द मनाते थे? क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनन्द को अपना आनन्द समझते थे। यदि आज शिवशम्भु

शर्मा अपने मित्र-वर्ग-सहित अबीर, गुलाल की झोरियाँ भरे रंग की पिचकारियाँ लिये अपने राजा के घर होली खेलने जाये तो कहाँ जाये? राजा दूर सात समुद्र पार है। न राजा को शिव-शंभु ने देखा, न राजा ने शिवशंभु को। खैर राजा नहीं, उसने अपना प्रतिनिधि भारत भेजा है। कृष्ण द्वारका ही में हैं, पर उद्धव को प्रतिनिधि बनाकर ब्रज-वासियों को संतोष देने के लिये ब्रज में भेजा है। क्या उस राज-प्रतिनिधि से घर जाकर शिवशंभु होली नहीं खेल सकता? ओफ़! यह विचार वैसा ही बेतुका है, जैसा अभी वर्षा में होली गाई जाती थी; पर इसमें गानेवाले का क्या दोष, वह तो समय समझकर ही गा रहा था। यदि बसंत में वर्षा की झड़ी लगे तो गानेवाले को क्या मलार गाना चाहिये? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है। कृष्ण हैं, उद्धव हैं, पर ब्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते। सूर्य्य है, धूप नहीं, चंद्र है चाँदनी नहीं। माई लार्ड नगर ही में हैं, पर शिवशंभु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चलकर होली खेलना तो विचार ही दूसरा है। माई लार्ड के घर तक बात की हवा तक नहीं पहुँच सकती। ·········द्वितीया के चंद्र की भाँति कभी-कभी बहुत देर तक नज़र गड़ाने से उसका चंद्रानन तो दिख जाता है। लोग उंगलियों से इशारे करते हैं कि वह हैं; किंतु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है। लोग उसे जान सकते हैं। माई लार्ड के उदय के लिये कोई समय भी नियत नहीं।

"इन सब विचारों ने इतनी बात तो शिवशंभु के जी में भी पैदा कर दी कि अब राजा-प्रजा से मिलकर होली खेलने का समय गया तो भी इतना संदेश भंगड़ शिवशंभु अपने प्रभु तक पहुँचा देना चाहता है कि आपके द्वार पर होली खेलने की आशावाले एक ब्राह्मण को कुछ नहीं तो कभी-कभी पागल समझकर ही स्मरण कर लेना। वह आपकी गूँगी प्रजा का एक वकील है।"

(शिवशम्भु के चिट्ठी से)

इस शैली को आगे के सम्पादकों ने बड़े चाव से अपनाया; क्योंकि यह शैली उनके लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई। इससे जनता का मनोरंजन तो होता ही था, साथ ही सामयिक परिस्थितियों की बड़ी प्रभावशाली समालोचना भी हो जाती थी। आजकल प्रायः सभी मासिक या साप्ताहिक पत्रों में कोई न कोई लेख इस ढंग का होता है। किसी में 'शराबी' की 'सनक' है तो कहीं 'मतवाले' की बहँक' कहीं किसी 'चौबे जी' की फबतियाँ हैं तो कहीं किसी अफ़ीमची की पिनक है। इस शैली का प्रयोग केवल राजनीतिक परिस्थितियों के विवेचन में ही नहीं, वरन् संपादक लोग आपस में एक दूसरे के ऊपर भी प्रायः इससे काम लेते हैं। आजकल तो कोई भी इसके वार से नहीं बचता। पुस्तकों या कविताओं के सुलेखकों या कुलेखकों की भी खबर इसके द्वारा ली जाती है। लोकमत के विरोधी राजाओं महाराजाओं, रईसों, पाखंडी पंडितों तथा समाज के शत्रुओं की भी इसी से पूजा होती है।

गुप्त जी के गद्य में कभी-कभी उर्दूपन आ जाता है, शब्दों में भी और वाक्य—विंयास में भी, जैसे उपर्युक्त शिवशम्भु के चिट्ठे में एक जगह आता है :—

………"वही बालक आगे कृष्ण हुआ, ब्रज का प्यारा हुआ, माँ-बाप की आँखों का तारा हुआ।"………

इसी प्रकार शब्दों में भी कहीं-कहीं अनावश्यक अरबी या फ़ारसी के शब्द रख दिये जाते हैं; पर उस प्रकार नहीं, जैसे राजा शिवप्रसाद रखते थे। इनकी शैली में स्वाभाविकता का लोप कभी नहीं होने पाता। इनकी भाषा में एक विचित्र प्रकार की पाठकों पर प्रभाव डालनेवाली शक्ति थी और इनकी दलीलें कुछ ऐसी होती थीं कि पाठकों की सहानुभूति इनके साथ बहुत शीघ्र हो जाती थी। उर्दू के विशेषज्ञ होने के कारण ही इनकी हिंदी इतने मुहाविरेदार होती थी।

उच्चकोटि की समालोचना भी गुप्त जी बड़ी उच्चकोटि की करते थे। इनकी समालोचनात्मक शैली इनकी साधारण शैली से कुछ भिन्न थी। द्विवेदी जी की तरह विषयानुसार शैली को बदल देने की इतनी अपूर्व प्रतिभा तो गुप्त जी में नहीं थी, पर इतना अवश्य था कि समालोचक के रूप में गुप्त जी कभी-कभी बहुत गम्भीर हो ज़ाते थे। उनकी इस शैली में हास्य और व्यङ्ग की मात्रा भी कम हो जाती थी। यद्यपि हास्य और व्यङ्ग गुप्त जी की लेखनी से नैसर्गिक रूप में निकलते हैं, पर कहीं भी उनका 'बेमौक़े' प्रयोग वे नहीं करते। समालोचना के समय वे तीक्ष्णातितीक्ष्ण व्यङ्ग भी छोड़

देते हैं पर अन्य अवसरों पर उनकी धार इतनी पैनी नहीं होती थी। इसका प्रधान कारण यह था कि अक्सर वे अपने व्यङ्गों की धार कुण्ठित करने के लिये लिखते समय भंग पीने का बहाना कर लेते थे। उनकी समालोचनात्मक शैली से अभिज्ञ होने के लिये उनका "भाषा की अनस्थिरता" शीर्षक लेख देखना चाहिये। यह लेख साहित्याचार्य पंडित महाबीरप्रसाद द्विवेदी-द्वारा प्रयुक्त 'अनस्थिरता' शब्द की व्याकरण के दृष्टिकोण से अलीकता सिद्ध करने के हेतु लिखा गया था। इसी प्रकार के भाषा की शुद्धता के विषय में समय-समय पर उग्र आलोचना-पूर्ण लेख लिख-लिखकर वे जनता का ध्यान भाषा के वैयाकरणिक परिमार्जन की ओर आकृष्ट करते थे।

पं० अंबिका दत्त व्यास १८५८—१९००

पंडित अम्बिकादत्त व्यास सरल से सरल भाषा लिखने के लिये प्रसिद्ध हैं। ये थे तो संस्कृत के पूरे विद्वान पर ऐसी सीधी-सादी भाषा में गम्भीर से गम्भीर भावों का समावेश कर देते थे कि पढ़ते समय आश्चर्य होता है। इसका प्रधान कारण यह है कि सनातन धर्म्म के वे बड़े कट्टर अनुयायी और प्रचारक थे। सर्वसाधारण को धर्म और भक्ति के तत्वों से भली भाँति अवगत करने के लिये बड़ी सरल भाषा की आवश्यकता होती है, उसमें सभी प्रकार के प्रचलित और घरेलू शब्दों का समावेश करना पड़ता है। व्यास जी के गद्य में ये सब गुण पूर्ण रूप से विद्यमान थे। ये लिखते समय अपने संस्कृत के दुरूह शब्द-भण्डार को भूल सा जाते थे और यथा-सम्भव नित्य-प्रति व्यवहार में आने वाले शब्दों ही से काम निकालते थे।

व्यास जी का गद्य भाँति-भाँति के तर्क अथवा दलीलों से भरा हुआ होता था। यह किसी भी धर्मोपदेशक अथवा मत-प्रचारक के लिये आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है, क्योंकि इस गुण के बिना प्रतिपक्षियों के सिद्धान्तों का मूलोच्छेदन और अपने सिद्धान्तों के सम्यक् प्रकार से प्रतिपादन करने में बहुधा असफल होने की आशङ्का रहती है; पर विशेषता यह थी कि व्यास जी की भाषा में तर्क तथा वाग्विस्तार की आधुनिक मात्रा अत्यधिक परिमाण में हो जाती थी, पर यह सब होते हुए भी उनकी दलीलें कभी भी रोचकता से रहित नहीं होती थीं, वे किसी भी अवस्था में अपनी भाषा में दुरूहता या शुष्कता नहीं घुसने देते थे। यही कारण है कि उनकी संख्या आज हिन्दी भाषा के कुछ इने-गिने गण्यमान्य कलाकारों में हो रही है। उस समय के अधिकांश लेखकों में शब्दाडम्बर का 'फैशन' सा हो गया था। लोग अपनी एक-एक बात को कई प्रकार से उसे लाजवाब और सुरक्षित करके तथा लोकोक्तियों और फबती हुई कविता की पक्तियों आदि के द्वारा परिपुष्ट करके जनता के सामने रखते थे। इस कला में व्यास जी को शायद कोई नहीं पाता था। व्यास जी अपने अभिप्राय को विशद रूप से प्रगट करने के लिये कोई बात उठा न रखते थे। यहाँ तक कि कहीं-कहीं ग्रामीण कहावतों, पद्यांशों और श्लोकों वा 'शेरों' के टुकड़ों को भी रखने से न चूकते थे। इस विषय में वे द्विवेदी जी से मिलते जुलते हैं। व्यास जी विशेषतः धार्मिक विषयों पर ही बोलते थे, जैसे 'मूर्तिपूजा'-'ज्ञान और भक्ति' इत्यादि। पर कभी-कभी

लौकिक और सामयिक विषयों पर भी उनके स्फुट लेख देखने में आते हैं।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय १८६५—

उपाध्याय जी हिन्दी के आधुनिक कवियों में बड़ा ऊँचा स्थान रखते हैं। इनका नाम हिन्दी के कवियों में इसलिये अमर रहेगा कि इन्होंने हिन्दी कविता को कवि-परम्परा मुक्त कर दिया। इन्होंने भी वर्ड्सवर्थ की तरह सिद्ध कर दिया कि सामयिक बोल चाल की भाषा में भी उच्चकोटि की कविता हो सकती है। 'प्रिय-प्रवास' नामक उनका भिन्न तुकांत महा-काव्य इस बात का प्रमाण है।

यह सब तो हुआ उनके पद्य के बारे में, पर यहाँ पर हमें यह देखना है कि वे गद्य कैसा लिखते थे और गद्य की भाषा के बारे में उनके क्या विचार हैं। उन्होंने दो उपन्यास 'ठेठ' हिंदी में लिखे हैं और उन्हीं की भूमिका तथा भाषा-द्वारा उनके भाषा-संबंधी विचार प्रगट होते हैं। ये दोनों ग्रंथ 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' उन्होंने बिलकुल बोलचाल की भाषा में लिखकर तैयार किये। इन दोनों ग्रंथों में शायद एक भी ऐसा शब्द नहीं है, जो नित्य की बोलचाल की भाषा का न हो। कुछ शब्द लोगों को ग्रामीण से खटकते हैं तथा बहुत से साहित्यिकों को और भी अनेक प्रकार की आपत्तियाँ हैं; जैसे कि कुछ लोगों का कहना है कि इस प्रकार की ठेठ भाषा का साहित्य में प्रयोग करने से—

(१) हिंदी भाषा की सर्वस्वीकृत लेख-प्रणाली और नियम में व्याघात होगा और स्वेच्छाचार को प्रश्रय मिलेगा।

(२) लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों की स्थापित परंपरा और शैली का उल्लंघन होगा।

(३) अप्रचलित और नवीन शब्दों का प्रयोग होगा।

(४) भाषा को ग्रामीण होने का लाँछन लगेगा।

इन शंकाओं का समाधान उपाध्याय जी ने पूर्णरूप से कर दिया है।

पहली शंका के बारे में उनके वक्तव्य का आशय यह है कि पहले तो हिंदी में प्राचीन लेखकों की लेख-प्रणाली का ध्यान उस प्रकार नहीं रखा जाता जिस प्रकार उर्दू में लखनऊ और देहली के लब्धप्रतिष्ठ लेखकों का। हिंदुस्तान के प्रत्येक प्रांत के उर्दू पत्र-संपादक प्रायः एक ही प्रकार की भाषा लिखते हैं, किसी भी पत्र में प्रांतीयता नहीं झलकती, पर हिंदी में ठीक इसके विपरीत आचरण होता है। इसका यह मतलब नहीं लगाना चाहिये कि हिंदी भाषा के लिये कोई नियम या प्रणाली निर्धारित नहीं है या हिंदी के सब लेखक यथेच्छाचार में प्रवृत्त हैं, पर इससे उनका अभिप्राय उन्हीं के शब्दों में यह है कि "हिंदी भाषा की जो लेख-प्रणाली उद्भावित होकर नियम-बद्ध हुई है, कई एक पत्र-संपादकों और नवोत्साहित अभिनव लेखकों और ग्रंथ-कारों-द्वारा उसकी यथोचित रक्षा नहीं हो सकती है। कितने लोग स्वयं प्रवृत्त होकर इस दोष में लिप्त होते हैं और कितने ही अमनोनिवेश, भ्रांति और अप्रगल्भतावश ऐसा करते हैं।"

उपाध्याय जी के उपर्युक्त कथन में बहुत कुछ तथ्य है। हिंदी अभी तक उतनी मँज नहीं पाई है; जितनी कि उर्दू। हिंदू और

मुसलमान दोनों ही ने मिलकर उसे शताब्दियों तक माँजा है और तब उसका एक ऐसा निखरा हुआ उज्ज्वल रूप प्रगट हुआ है कि किसी भी नये उर्दू-लेखक को उससे दूर या अलग रहकर लिखना प्रायः असंभव सा है, उसकी उर्दू उर्दू ही न समझी जायगी; परंतु हिंदी में अभी तक क्या हो रहा है। बहुत दिनों तक हिंदी और उर्दू का साम्य सा रहा। धीरे-धीरे उर्दू भाषा तथा लिपि दोनों की लोक-प्रियता इतनी बढ़ गई और हिंदी को 'मुश्किल ज़बान' कहकर उसको इस प्रकार कुयें में ढकेला जाने लगा कि राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मणसिंह और हरिश्चंद्र ऐसे लोगों की समझ में यह बात आ गई कि यदि यही अवस्था कुछ दिन और रही तो हिंदी का 'नामोनिशान' दुनिया से उठ जायगा और इतनी देर के बाद हिंदी गद्य को साहित्यिक रूप देने का वास्तविक उद्योग होने लगा; परंतु यह वह समय था, जब कि उर्दू का साहित्यिक रूप निखर चुका था, उसकी सुंदरता में अब कोई कमी नहीं रह गई थी। हिंदी भाषा के परिपक्व होने में अभी भी बहुत कुछ कसर है। अभी तक जितने गद्य-लेखकों के उल्लेख हुए हैं, उनमें से प्रायः प्रत्येक ने हिंदी में कोई न कोई बात पैदा की, किसी न किसी खास कमी की पूर्ति की यह 'सिलसिला' अभी तक चला ही जा रहा है और न कब तक चलेगा। नये-नये 'स्टाइलिस्ट' या शैलीकार रोज़ रहे हैं। आधुनिक लेखकों में से अधिकांश पाश्चात्य ढंग से शिक्षा पाये हुए रहते हैं और अंगरेज़ी भाषा का रंग उनके विचारों में सोलहों आने चढ़ा हुआ रहता है। वे अंगरेज़ी में ही सोचते

हैं और अधिकतर वे हिंदी लिखते समय अपने विचारों का हिंदी में अनुवाद सा करते हैं। उनके सामने साहित्यिक आदर्श पश्चिम से लाकर रक्खा जाता है। तो ऐसी अवस्था में 'सर्व-स्वीकृत' लेख-प्रणाली और नियम की गुञ्जायश ही नहीं रह जाती, फिर उसमें व्याघात कहाँ से होगा। इसे एक प्रकार से स्वेच्छाचार भी कह सकते हैं; पर इसके रोकने का कोई उपाय नहीं है यह अभी कुछ दिन ऐसे ही चलेगा; पर कितने दिन यह कोई नहीं कह सकता, पर इसमें प्राचीन ढंग के साहित्यिकों को जो यह आशंका हो रही है कि इससे हिंदी रसातल को चली जा रही है, अमूलक है। इस उथल-पुथल से हिंदी को बहुत अच्छा अभ्यास मिल रहा है और यह निश्चित है कि कुछ दिन बाद हिंदी-गद्य का भी एक वैसा ही निखरा हुआ रंग हमारे सामने आवेगा, जैसा उर्दू का है।

परंतु उपाध्याय जी का कथन है कि इन सब विभिन्न प्रकार की लेखन-प्रणालियों के रहते हुए भी हिंदी-भाषा की एक सर्व-स्वीकृत लेख-प्रणाली है और उसमें जो प्रीतम, अब, घर, देस, बरसात, सौत, फंद, सुध तथा ऐसे ही और भी बहुत से ठेठ शब्दों का प्रयोग होता है, उसे 'स्वेच्छाचार' कहना ठीक नहीं। ध्यान से देखने से प्रतीत होता है कि ये सब शब्द ब्रज-भाषा के हैं। बहुत से संस्कृत के शब्द ऐसे हैं, जो प्रांतिक ठेठ शब्दों से भी अधिक व्यापक और प्रचलित हैं। इसका कारण यह है कि ब्रज-भाषा प्रांतिक भाषा होने पर भी धर्म्म-ग्रंथों तथा भाषा-काव्य-ग्रंथों की सहायता से आज पाँच सौ वर्ष से हिंदी बोलनेवाले

मात्र की सुपरिचिता है। अंत में उपाध्याय जी कहते हैं कि, "व्रज-भाषा का पुट देकर हिंदी भाषा पर रंग चढ़ाया गया है और यह प्रणाली प्राचीन हिंदी सुलेखकों-द्वारा बहुत सोच-विचार कर युक्ति-पूर्वक स्थापित हुई है। वाद-ग्रस्त, 'ऊमस' आदि शब्द व्रजभाषा के ही हैं; इसलिये हिंदी भाषा, मुख्यतः ठेठ हिंदी, लिखने में इन शब्दों का प्रयोग किया गया तो न तो इससे सर्व-स्वीकृत लेख-प्रणाली और नियम का व्याघात हुआ और न स्वेच्छाचार को प्रश्रय दिया गया; अतएव प्रथम आपत्ति की अयौक्तिकता सिद्ध है।" उपाध्याय जी का यह कथन युक्तिपूर्ण तो हुई है; पर इतना न कहकर भी वे अपने प्रतिपक्षियों का उत्तर दे सकते थे। हिंदी के वास्तविक शब्द-भंडार में चार प्रकार के शब्द हैं—तत्सम, तद्भव, देशज तथा विदेशी। इसमें तत्सम तो संस्कृत के शुद्ध शब्दों को कहते हैं और विदेशी शब्दों के अंतर्गत अरबी-फ़ारसी या अंगरेज़ी आदि के शब्द आ जाते हैं। तद्भव उन शब्दों को कहते हैं, जिनके शुद्ध रूप संस्कृत में मिलते हैं और जिनका आधुनिक रूप पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में विकसित होकर आया है; जैसे—दही (दधि), दूध (दुग्ध) इत्यादि। इन तीनों प्रकार के शब्दों के सिवाय हिंदी में बहुत से शब्द ऐसे मिलते हैं, जिनके उद्गम का कहीं पता नहीं है, जैसे 'बिसूरना', 'नीमन' 'बकुचा' इत्यादि। भाषा-तत्त्वज्ञ इन्हें 'देशज' शब्द कहते हैं। 'देशज' संज्ञा इनकी इस विश्वास पर रक्खी गई है कि जब आर्य लोग उत्तर से भारतवर्ष में आये तो उन्हें बहुत से शब्द यहाँ के आदिम निवासियों

से लेने पड़े होंगे। ये शब्द विशेषतः ऐसे शब्द थे, जिनके आशय के शब्द उनकी आर्य-भाषा में नहीं थे। उसी समय से ये शब्द भारतवासियों की बोल-चाल की भाषा में प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं; परन्तु स्मरण रहे आर्यों ने इन 'अनार्य' शब्दों को अपने साहित्य में शायद कभी भी स्थान नहीं दिया। यही दो प्रकार के शब्द 'तद्भव' और 'देशज' आज ठेठ हिन्दी के शब्द कहे जा रहे हैं। उपाध्याय जी इनको ब्रजभाषा के शब्द कहते हैं पर ये शब्द ब्रजभाषा या किसी अन्य प्रान्तिक भाषा की सम्पत्ति नहीं हैं। ऐसे असंख्य शब्द प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में भरे पड़े हैं, कोई उन्हें प्रान्तिक शब्द कहता है, कोई ग्रामीण कहकर उन्हें ठुकरा देता है। उन्हें साहित्यिक व्यवहार में लाने से सभी घबराते से हैं। इन शब्दों को हमारे विचार से इन्हीं रूप में ले लेने में और साहित्य में व्यवहार करने में किसी प्रकार की हानि नहीं दीख पड़ती। बङ्गला ने इस ओर अभी हाल में बहुत गम्भीरता से विचार करना शुरू किया है। हिन्दू जाति में अछूतों की जो अवस्था है; वही अवस्था इन देशज शब्दों की है; परन्तु अब अछूतों की ओर उच्च जातियों की कुछ-कुछ कृपा-दृष्टि होने लगी है और बहुत से उत्साही साहित्यिक भी इन अनार्य शब्दों को देववाणी के शब्दों के साथ कन्धे से कन्धा सँटाकर रखने में ही भाषा के मौलिक शब्द-भण्डार का कल्याण समझने लगे हैं। अस्तु :—

दूसरी आपत्ति उपाध्याय जी की ठेठ हिन्दी के विषय में यह की जाती है कि इसके प्रचार से लब्धप्रतिष्ठ लेखकों को

स्थापित परम्परा और शैली का उल्लंघन होगा। इस आक्षेप का निराकरण उपाध्याय जी यह कहकर कर देते हैं कि आवश्यकतानुसार 'कश्चित' संज्ञा या विशेषण या इसी प्रकार का कोई दूसरा शब्द हिन्दी भाषा में व्रज-भाषा से ग्रहण कर लिया जावे तो कोई क्षति नहीं। व्रज-भाषा क्या समय तो हमको यह बतलाता है कि अंगरेजी, फारसी, अरबी, तुर्की इत्यादि के वे सब शब्द भी, जिनका प्रचलन दिन-दिन देश में होता जाता है और जिनको प्रत्येक प्रान्त में सर्वसाधारण भली भाँति समझते हैं, यदि हिन्दी भाषा में आवश्यकतानुसार गृहीत होते रहें तो भी कोई क्षति नहीं।"

यह कथन उपाध्याय जी का सर्वथा समीचीन है; परन्तु इस वाक्य में जिस सिद्धान्त का उन्होंने प्रतिपादन किया है, वह उनके पहले सिद्धान्त से—जिसका प्रतिपादन उन्होंने 'ठेठ हिन्दी के ठाठ' में किया है—भिन्न है। पहले वे ठेठ हिन्दी में अंगरेजी, फारसी इत्यादि के प्रचलित शब्दों को शामिल करने के लिये तैयार नहीं थे, पर अब समय ने उन्हें बतला दिया कि ऐसा करने में कोई हानि नहीं प्रत्युत लाभ ही लाभ है। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि समय शीघ्र से शीघ्र यह शिक्षा भाषा के शुद्धिवादियों को दे दे।

उपाध्याय जी का अभिप्राय यह है कि केवल कुछ ऐसे ठेठ शब्दों को भाषा में स्थान दे देने से ही लब्धप्रतिष्ठ लेखकों की परम्परागत शैली में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, परिवर्त्तन किसी भी शैली में उस हालत में हो सकता है, जब

वाक्य योजना और वाक्य-विन्यास-प्रणाली में कोई नवीनता उत्पन्न की जावे, दूसरे शब्दों में, शैली में परिवर्तन उसी समय होगा, जब कि खड़ी बोली अथवा जिसे आजकल 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं, उसमें जो क्रिया, पद, कारक के चिन्ह, सर्वनाम और उपसर्ग आदि व्यवहृत होते हैं, उनमें कोई रद्द बदल किया जाय; पर ऐसा तो उपाध्याय जी करते नहीं, वे 'देखो' को 'द्याखौ' बैसवारी नहीं लिखते; 'हम आते थे' को 'हमनी का आवत रहलीं'। (गोरखपुरी बोली); 'हाँ सखी' को 'हम्बे-बीर' (व्रज) इत्यादि तो नहीं लिखते। वे केवल आवश्यकता-नुसार कुछ ऐसे शब्द ले लेते हैं, जिनको साहित्याचार्य लोग साहित्य में स्थान देने योग्य नहीं समझते; पर ऐसे दुराग्रही लोग यह नहीं समझते कि किसी जीवित भाषा में किसी मृत भाषा (संस्कृत) के कठिन तथा बोल-चाल की भाषा में न आने-वाले या कम आनेवाले शब्दों के अधिकाधिक प्रयोग से उस जीवित भाषा (हिन्दी) की विकास-धारा आगे को बढ़ती है या पीछे को घुमाई जाती है। ऐसे लोगों को आधुनिक पाश्चात्य भाषाओं के विकास को ज़रा मनन कर जाना चाहिये और देखना चाहिये कि वहाँ के बड़े-बड़े अग्रगण्य साहित्यिक लोग कैसी भाषा में लिखते हैं। विलायत के दो सर्व-श्रेष्ठ नाटककार 'बर्नार्ड शा' और 'गाल्सवर्दी' की भाषा को ज़रा ध्यान से देखें और निर्णय करें कि वे लोग कहीं भी यूरप की संस्कृत—लेटिन और ग्रीक के शब्दों या मुहाविरों या उनकी सुगन्ध तक को अपनी भाषा में आने देते हैं या नहीं। ये लोग उसी भाषा का

व्यवहार करते हैं जो वहाँ के शिष्ट समाज की भाषा है। इनकी महत्ता इसी में है कि ये महाशय इसी बोलचाल की भाषा में गम्भीर भावों का समावेश कर सकते हैं और ऐसी विचार पूर्ण बातें कह देते हैं कि उनको समझने वाले ही उनको समझते हैं। इनको जो कुछ भी कहना होता है इसी जन-समुदाय की बोल चाल की भाषा में कहते हैं।

तीसरी और चौथी शङ्कायें ये हैं कि "अप्रचलित और नवीन शब्दों का प्रयोग होगा"; और "भाषा ग्रामीण हो जायगी।" ये दोनों ही शङ्कायें अमूलक हैं, पर इनका उत्तर उपाध्याय जी ने काफ़ी विस्तार से दिया है। इस विस्तार का कारण यह प्रतीत होता है कि ऐसी ही कुछ दो चार शङ्काओं के कारण हिन्दी भाषा के विकास में बाधा उपस्थित हो रही है।

कुछ लोग समझते हैं जो शब्द केवल पद्य में व्यवहृत होते हैं और जिनका तोड़ा-मरोड़ा हुआ 'ठेठ' रूप केवल पद्य के व्यवहार में ही क्षम्य हो सकता है, उनको गद्य की साफ़-सुथरी खड़ी बोल चाल की भाषा में व्यवहार न करना चाहिये, और इनका यह कहना कुछ अंशों तक युक्ति-संगत भी है परन्तु उपाध्याय जी का यह कहना है कि यद्यपि इन शब्दों का प्रयोग पहले पहले पद्य में ही हुआ है पर ये व्यापक शब्द हैं और सर्व-साधारण इनसे अनेकांश में परिचित हैं। इसका कारण यह है कि मामूली पढ़े लिखे लोग भी चाहे गद्य का एक लेख भी न पढ़े हों पर पद्य में कमसे कम रामायण तो अवश्य ही और नहीं तो व्रज विलास, दान-लीला, मान लीला, सुख सागर आदि पढ़े या सुने रहते हैं। तो

ऐसी अवस्था में उन शब्दों को गद्य लेखों में व्यवहार करना अप्रचलित लब्दों का व्यवहार करना न कहलायेगा। पर इन सब बातों के होते हुए भी बहुत से शब्दों का उसी रूप में गद्य में व्यवहार, जिस रूप में वे पद्य में व्यवहृत होते हैं, कहीं कहीं बहुत भद्दा मालूम होता है। उपाध्याय जी का यह कहना ठीक है कि भाषा के अंग गद्य और पद्य दोनों ही है। परन्तु शरीर के विभिन्न अङ्गों के धर्म अथवा कार्य अलग अलग हैं; हाथ का काम पैर से नहीं हो सकता तथा प्राय: एक हाथ का काम दूसरे हाथ से भी नहीं हो सकता। यही प्रश्न आगे चलकर यह गम्भीर रूप धारण कर लेता है कि "गद्य और पद्य की भाषा एक हो सकती है कि नहीं"। यहाँ पर इस प्रश्न पर विचार करने को अवसर नहीं है पर इतना तो कहना ही होगा कि यद्यपि अंग्रेजी में वर्ड्सवर्थ ने और हिन्दी में उपाध्याय जी ने 'प्रियप्रवास' गद्य की खड़ी बोली में ही लिखकर साहित्य संसार में बड़ी उथल पुथल मचा दी थी, पर कुछ न कुछ फ़र्क साधारण भाषा में और पद्य की भाषा में सदा से रहा है, और रहेगा। पद्य के कवि के लिये प्रत्येक समय में कुछ न कुछ स्वातन्त्र्य शब्दों के रूपों के मोड़ने माड़ने में तथा वाक्ययोजना आदि में दिया जाता है तथा इन विषयों में वह यदि थोड़ी बहुत उच्छृङ्खलता भी दिखावे तो वह भी क्षम्य हो सकती है परन्तु गद्य लेखक को ये सब सुविधायें नहीं दी जातीं। 'नेरे' 'चेरे' 'घनेरे' इत्यादि शब्द ब्रजभाषा के कवि के लिये क्षम्य हो सकते हैं पर गद्य के लेखक के लिये नहीं और खड़ीबोली में कविता लिखनेवाला भी इनका प्रयोग करने का साहस नहीं कर सकता,

कारण यह है कि साधारण गद्य और आज कल की खड़ी बोली के पद्य में भेद बहुत कम मालूम होता है और यदि कभी कभी हो भी जाता है तो नहीं के बराबर। इन पंक्तियों के लिखने का यह मतलब कदापि न लगाना चाहिये कि हम गद्य में नवीन शब्दों के प्रचलित करने के विरोधी हैं; हमारा कहने का तत्पर्य केवल इतना ही है कि पद्य में जिन जिन शब्दों से सर्वसाधारण परिचत हैं उन शब्दों का प्रयोग गद्य लेखों में केवल इसी कारण से क्षम्य नहीं हो सकता कि भाषा के अंग गद्य और पद्य दोनों हैं। रह गया प्रचलित नवीन शब्दों के भाषा साहित्य में स्थान देने के विषय में सो उसके विषय में उपाध्याय जी के सिद्धान्त आदर्श रूप से माने जाने चाहिये। इस विषय में उपाध्याय जी ने जिस साहस से काम लिया है वह भाषा के लिये बड़ा कल्याणकारी है। अब भी लोग भाषा में नवीन शब्दों का विरोध करते हुये देखे जाते हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है। आवश्यकतानुसार नवीन शब्द जब न लिये जायंगे तो भाषा संस्कृत के सहारे कै दिन तक अपना अस्तित्व बनाये रहेगी? प्रमाण में जैसा कि उपाध्याय जी कहते हैं, अंग्रेजी भाषा उपस्थित की जा सकती है जो इस समय संसार की सभी भाषाओं में अधिक सुसम्पन्न है और नित्य प्रति जिसकी उन्नति होती जा रही है। इसका कारण क्या है? यही कि इसमें सदा आवश्यकतानुसार नये शब्द और मुहाविरे भर्ती कर लिये जाते हैं और कोई भी उनका विरोध नहीं करता बल्कि बड़े बड़े लब्ध प्रतिष्ठ लेखक उनका पहिले आदर करते हैं।

अन्त में कुछ लोग उपाध्याय जी के ठेठ शब्दों से घबरा कर

कहते हैं कि भाषा 'ग्रामीण' हो जायगी ! उपाध्याय जी का कहना है कि यह आपत्ति कुछ पुष्ट है और इसका समाधान यह कह कर करते हैं कि 'भाषा ग्रामीण उसी समय होगी जब कि हम शिष्ट समाज में गृहीत शब्दों को अनेकांश में न ग्रहण करेंगे किम्वा शब्दों के लिखने में उनके उच्चारण और व्यवहार का ध्यान न रक्खेंगे।" हमारे विचार से 'ग्रामीण' समझे जाने वाले शब्दों को यदि हम अनेकाँश में भी लें तो भी भाषा ग्रामीण नहीं हो सकती जब तक कि उसका वाक्य-विन्यास, वाक्य-योजना, क्रिया-पदों, उपसर्गों तथा सर्वनामों का प्रयोग 'लब्ध-प्रतिष्ठ' लेख-प्रणाली के अनुसार होता रहेगा। दूसरे शब्दों में भाषा का व्याकरण यदि शुद्ध है तो केवल ग्रामीण कहे जाने वाले शब्दों को शामिल कर लेने से भाषा गँवारू न हो जायगी। व्याकरण भाषा का पहनावा अथवा वेशविन्यास तथा शृंगार है। किसी देहाती को भी यदि आप नगरोचित वेशभूषा से सुसज्जित रखें तो कुछ दिन में वह शहर के लोगों में अवश्य मिल जायगा और यदि तर्क के लिये मान लें कि वह न भी मिले तो शहर के 'असली' रहने वाले केवल उसके सहवास के कारण देहाती न जँचने लगेंगे वरन् ऐसे देहातियों के सहवास से जन साधारण में एक नये ही ढंग की शोभा बढ़ेगी, संख्या बढ़ेगी और शक्ति भी बढ़ेगी। उपाध्याय जी कुछ 'हम्बेवीर' 'द्याखौ' 'गे रहेन्' इत्यादि लिखने की सलाह तो देते नहीं और न ऐसा स्वयं लिखते हैं। वे उच्चारण को आदर्श मानते हैं, पर हमको यहाँ समझ लेना चाहिये कि उनका मतलब देहातियों के उच्चारण से नहीं है बल्कि शिष्ट-समाज के। उपाध्याय जी

उच्चारण के अनुसार लिखने के इतने पक्षपाती हैं कि बहुत से शब्दों को जो अपनी अटपट स्पेलिङ्ग के कारण शिष्ट-समाज में विशेषत: अशुद्ध रूप से ही बोले जाते हैं, उन्हीं अशुद्ध रूप में लिखना ठीक समझते हैं। जैसे 'स्त्री' को 'इसतिरी' 'इन्दर' (इन्द्र) 'सराप' (शाप) 'सबद' (शब्द) इत्यादि। उनका कहना है कि "जो टेढ़े-मेढ़े शब्द-प्रस्तर-समूह घिसते-घिसते सुन्दर और सुडौल आकार में परिणत हो गये हैं, फिर उनको उसी पूर्व रूप में लाने की चेष्टा व्यर्थ है। परन्तु हमारे विचार से ये ऊपर दिये हुये शब्द 'इस-तिरी' 'इन्दर' आदि शब्द अभी घिसते-घिसते सुन्दर और सुडौल आकार में नहीं परिणत हुए हैं, अपने पूर्व रूप से अभी जरा भी विकृत नहीं हुये हैं। हैं वे अपने असली रूप में ही। सिर्फ कुछ लोग, विशेषत: अशिक्षित उन्हें बिगाड़ कर इसलिये बोलते हैं कि उस प्रकार के उच्चारण में उन्हें आसानी होती है, जिह्वा को तथा वाणी के अन्य सहायक अङ्गों को अधिक व्यायाम नहीं कराना पड़ता। अब 'स्त्री' शब्द को ही लीजिये यहाँ बोलने में आसानी के ख्याल से 'स' के पहले 'इ' लगा देना तथा त र के संयोग को अलग कर देना स्वाभाविक है। यह प्राय: सर्वत्र देखा जाता है कि जहाँ कहीं किसी शब्द के आरम्भ में 'स्' किसी दूसरे वर्ण से मिला रहता है वहाँ उस संयुक्त वर्ण के पहले लोग बोलते समय 'इ' लगा देते हैं, जैसे स्कूल-इसकूल, स्पंज-इसपंज स्पेशल-इस-पेशल। जिनको वाणी पर अधिकार है और जो सदा शुद्ध बोलने का ख्याल रखते हैं वेही 'स्कूल' और 'स्त्री' कहते हैं पर लेखक यदि इसी विकृत उच्चारण को आदर्श मान लेगा तो कहीं कहीं 'अर्थ'

का 'अनर्थ' हो जायगा जैसे 'स्थायी' को लोग अधिकतर 'अस्थायी' बोलते हैं। स, थ के संयुक्त उच्चारण के पहले बिना स्वर लगाये बोलना सब के लिये कठिन होता है। बहुत से लोगों का तो यह हाल रहता है कि उच्चारण तो विकृत करते हैं पर अपनी जान शुद्ध उच्चारण करते हैं, लाख कोशिश करने पर भी उन्हें नहीं पता चलता कि हम कैसा उच्चारण कर गये और सुननेवालों के आपत्ति करने पर आश्चर्य प्रगट करते हैं। बङ्गाली लोगों के उच्चारण में सब जगह तालव्य शकार की ही आवाज़ सुनाई पड़ती है पर उनकी बोली में लिखे सब प्रकार के सकार जाते हैं। कुछ पश्चिमोत्तर प्रान्तों में रहने वाले बङ्गाली बहुत दिन प्रयत्न करने पर दन्त्य 'स' का उच्चारण करने में समर्थ होते हैं। ध्यान से यदि देखा जाय तो मालूम होगा कि हरेक देश, जाति तथा जलवायु के अनुसार वहाँ के लोगों के उच्चारण के अवयव भी एक 'ख़ास तरह' के हो जाते हैं। किसी किसी भाषा तत्त्ववित् का तो यहाँ तक कहना है कि ध्यान से देखने पर मालूम हो सकता है कि प्रत्येक मनुष्य के बहुत से शब्दों के उच्चारण में कुछ न कुछ विचित्रता रहती है, विशेषतः भारतवर्ष में, जहाँ दो सौ से अधिक बोलियाँ बोली जाती हैं, उच्चारण-वैषम्य बहुत देखने में आता है। हरेक ज़िले की उच्चारण शैली पृथक् पृथक् हैं। 'एक्सेन्ट' तथा 'इम्फेसिस' दो-दो चार-चार कोस के फासले पर बदले हुए मालूम होते हैं। शहरों के कुछ थोड़े से उच्च कोटि की शिक्षा पाये हुए लोग शिक्षित समाज में अधिकतर शब्दों का एक सा उच्चारण करते हैं और वे भी नौकर चाकर से बोलते समय

किसी दूसरी ही उच्चारण शैली का प्रयोग करते हैं। ऐसी अवस्था में कौन सा, कहाँ का, और किसका किसका उच्चारण आदर्श माना जायगा ? 'जो शब्द घिसते घिसते सुन्दर और सुडौल हो गये हैं वे पक्के तद्भव शब्द हैं जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, जैसे 'दूध दही' इत्यादि। इनके उच्चारण में कहीं कोई झंझट नहीं है, पर 'इसतिरी' और 'इन्दर' या 'सबद' तद्भव नहीं हैं, ये संस्कृत के शुद्ध 'तत्सम' शब्द हैं सिर्फ बिगाड़ कर बोले गये हैं। ये अभी 'घिसे' कहाँ ? और यदि घिसे भी हों तो उनका घिसा हुआ रूप कुछ और है जैसे 'स्त्री' 'इत्तिरियों (प्राकृत) तिरिया (हिन्दी)। 'तिरिया' शब्द का प्रयोग बहुत मिलता है पर इसका अर्थ साधारण शब्द 'स्त्री' से 'कुछ' भिन्न है। इस विषय में अब अधिक न लिख कर उपाध्याय जी के गद्य के विषय में दो एक बातें और लिखकर यह प्रसंग समाप्त करेंगे। इन दो उपन्यासों को छोड़कर अन्यत्र उपाध्याय जी का गद्य अत्यन्त संस्कृत पूर्ण होता है। उन्होंने इन पुस्तकों की भाषा तथा भूमिका द्वारा जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उसे वे स्वयं व्यवहार के रूप में नहीं लाते यह बड़े खेद की बात है। 'अधखिला फूल' की भूमिका के अन्त में उन्होंने स्वयं इस विषय पर खेद प्रगट करते हुए कहा है कि विषय की जटिलता के कारण वे ठेठ हिन्दी में भूमिका लिखने में असमर्थ हैं। यह तो मानना पड़ेगा कि समालोचनात्मक भाव सभी जगह कुछ क्लिष्ट होता है, पर समालोचना में भी निरर्थक संस्कृत शब्दों की भरमार कभी भी क्षम्य नहीं हो सकती। इसका प्रधान कारण यह भी हो सकता है समालोचना लिखनेवाले प्रायः

अपना पाण्डित्य दिखाने लग जाते हैं। उपाध्याय जी संस्कृत शब्दों के विरोध में लिखते हैं :—…"शुद्ध संस्कृत शब्दों के स्थान पर व्यवहृत अपभ्रंश संस्कृत शब्दों का प्रयोग मैं उत्तम समझता हूँ। आँख, नाक, कान, मुँह, दूध, दही के स्थान पर लिखने के समय हम इनका शुद्ध रूप अक्षि, नासिका, कर्ण, मुख, दुग्ध, दधि इत्यादि व्यवहार कर सकते हैं, किन्तु भाषा इससे कर्कश हो जावेगी, जन साधारण के बोधगम्य न होगी साथ ही उसका हिन्दीपन लोप हो जावेगा"। पर इस सिद्धान्त के साथ ही वे यह भी कहते हैं—"यदि कोई वाद-ग्रस्त विषय लिखना होवे, किम्वा कोई गूढ़ मीमांसा करना हो, अथवा मनोभाव-व्यञ्जक कोई उपयुक्त शब्द भाषा में न प्राप्त होता होवे तो हम संस्कृत शब्दों से हिन्दी लिखने के समय अवश्य काम ले सकते हैं"।

इन दोनों सिद्धान्तों को मिलाकर देखने से यह निष्कर्ष निकलता है कि उपाध्याय जी विषयानुसार शैली को बदल देने के पक्षपाती हैं। कहीं कहीं वे स्वयं इसी सिद्धान्त के अनुसार गंभीर गवेषणा पूर्ण लेख लिखते समय अत्यन्त संस्कृत पूर्ण गद्य लिखते हैं पर इस अवस्था में भी इनके गद्य में वह दुरूहता या क्लिष्टता नहीं आने पाती जो पं० गोविन्द नारायण आदि के गद्य में मिलती है। इसका मुख्य कारण यही है कि उपाध्याय जी वास्तव में पद्य लेखक हैं, एक सरस कवि हैं और प्रसाद गुण इनकी रचना, गद्य या पद्य दोनों में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है।

अन्त में उनके 'ठेठ' हिन्दी के गद्य को एक विशेष प्रकार

के गद्य का उदाहरण मान कर यदि उनके साधारण गद्य पर विचार किया जाय तो कहना पड़ेगा कि उपाध्याय जी एक संस्कृत (Classical) गद्य लेखक हैं। उनके गद्य में गम्भीरता बहुल है, उनकी शैली सीधी है और उसमें हास्य तथा व्यङ्ग का अभाव है।

हिंदी-गद्य के विकास की वर्तमान अवस्था

हिंदी-संसार में इस समय क्या हो रहा है, इस पर विचार करने से पहले इस विषय पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है कि हिंदी की इस समय जो बहुत तेज़ी के साथ उन्नति होती दिखाई पड़ रही है, इसके प्रधान कारण क्या हैं। भारतेंदु के समय तक उर्दू लिपि तथा बोली का बोल-बाला था। यहाँ तक कि भारतेंदु तथा उनके समसामयिक लेखक-वृन्द इस 'निगोड़ी' उर्दू के अत्यधिक प्रचार से इतने परेशान हो रहे थे कि कभी-कभी हताश से हो जाते थे। सबसे बड़ी मुश्किल तो यह थी कि उर्दू लिपि (अथवा फ़ारसी लिपि) में लिखने-पढ़ने के लोग इतने आदी हो गये थे कि बहुधा हिंदी-भाषा की पुस्तकें प्रचार के ख़्याल से फ़ारसी लिपि में ही प्रकाशित की जाती थीं। हिंदी लिपि में छापने से प्रकाशकों को बड़ा घाटा उठाना पड़ता था। यह सब देखकर भारतेंदु-लेखक-मंडल ने सबसे पहले नागरी लिपि को ही लोकप्रिय बनाने का निश्चय किया तथा कुछ दिन बाद यह भी निश्चय हुआ कि जैसे हो तैसे हिंदी लिपि की पहुँच अदालतों में भी करानी चाहिये। इस प्रयत्न के लिये बहुत से उत्साही प्रेमी बड़ी तत्परता से काम करने लगे। हर एक प्रांत में विद्वानों के भाषण होने लगे, जिनका विषय यही होता था कि हिंदी-लिपि कितनी सुगम सुबोध, सच्ची और निर्दोष है

और भी बढ़ गया और एक बहुत बड़ा, महत्वपूर्ण 'डेपुटेशन' महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी के नेतृत्व में जिसमें कई एक राजे भी शामिल थे, लाट साहब के पास पहुँचा और नागरी का 'मेमोरियल' उन्हें समर्पित किया गया। मालवीय जी ने इस विषय पर दो-एक पुस्तकें भी लिख डाली थीं, जिनका कि लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सन् १८९८ ई० में यह ऐतिहासिक डेपुटेशन गया और इसका यथाभिलाषित फल दो वर्ष बाद मिला। फलतः सन् १९०० ई० में अदालतों में नागरी-लिपि के प्रवेश की घोषणा कर दी गई। इसके उपरान्त सभा ने हिंदी-साहित्य की समृद्धि पर विशेष ध्यान डाला। बहुत से अग्रगण्य विद्वान् तथा लेखक इसके पृष्ठ-पोषक हुये, जिनमें सबसे प्रसिद्ध बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू जगमोहन वर्म्मा तथा बा० रामकृष्ण वर्म्मा आदि हैं। इनके सम्मिलित तथा निस्वार्थ भाषाहितैषिता से हिंदी का कल्पनातीति उपकार हुआ है और हो रहा है। इन लोगों ने मिलकर हिंदी का एक विस्तृत कोष 'हिंदी-शब्द-सागर' नाम से प्रकाशित किया है तथा एक 'वैज्ञानिक कोष' जिसकी कि इस समय बड़ी आवश्यकता है यहाँ से निकला। यद्यपि इस वैज्ञानिक कोष से इतनी सहायता नहीं मिलती, जितनी कि चाहिये और एक वृहत् और सर्वाङ्गीण वैज्ञानिक कोष की इस समय हिंदी-संसार में बड़ी उत्कट आवश्यकता है। खोज का काम भी सभा बहुत उच्चोटि का कर रही है तथा हिंदी के पुराने कवियों के जीवन-संबंधी प्रामाणिक बातों तथा उनकी कृतियों की खोज और प्रकाशन का बहुमूल्य कार्य यहाँ

हो रहा है। यहाँ "मनोरंजन पुस्तक माला" नाम से एक 'सीरीज़' निकलती है, जिसमें विविध विषयों पर अच्छी-अच्छी पुस्तकें समय-समय पर निकलती रहती हैं।

इस सभा ने कार्य उस समय आरंभ किया था जब कि हिंदी-क्षेत्र में भारतेंदु का सहयोगी लेखक-मंडल बड़ी 'सरगर्मी' के साथ काम कर रहा था। बीच में यह काम कुछ ढीला पड़ गया था; पर आजकल फिर एक नई प्रकार की जागृति हिंदी-संसार में हो गई है जिससे कि विशेषतः अङ्गरेज़ी की उच्च शिक्षा पाये हुये लोग बड़े उत्साह से हिंदी की ओर झुक रहे हैं।

इन पाश्चात्य ढंग से शिक्षा पाये हुए लोगों की हिंदी कुछ विचित्र सी होती है। ये लोग अंग्रेज़ी में ही सोचते हैं और इनकी शैली और वाक्य विन्यास कहीं-कहीं ऐसा विदेशी सा खटकता है कि जो लोग अङ्गरेज़ी नहीं जानते वे बहुधा इन विचित्र वाक्यों के अर्थ नहीं समझ पाते। इस 'अङ्गरेज़ी-पन' के साथ ही साथ 'बङ्गलापन' भी हिंदी में कहीं-कहीं बहुत घुस रहा है। कुछ कलकत्ते या उसके आस पास रहने वाले लोग बहुत से बङ्गला के प्रयोगों और मुहाविरों को हिन्दी में ऐसे भद्दे तरीक़े से रख देते हैं कि भाषा का हिन्दीपन ही ग़ायब हो जाता है। इससे यह हो रहा है कि ख़ास ख़ास प्रान्तों की शैलियाँ भिन्न भिन्न होती जा रही हैं। आप बहुधा किसी आजकल के लिखने वाले की भाषा को देखते ही पहचान लेंगे कि यह अमुक प्रान्त की हिन्दी है।

पर इन सब बातों के होते हुये भी हिन्दी गद्यसाहित्य का

कलेवर दिनों दिन बढ़ता जा रहा है विशेषतः अनुवाद, सो भी मुख्यतः उपन्यास और नाटकों के। अंग्रेज़ी, बङ्गला, मराठी, तथा संस्कृत से भी बहुत से अनुवाद हो रहे हैं। हिन्दी लिपि और हिन्दी भाषा को पढ़ने और समझने वालों की संख्या बहुत शीघ्रता से बढ़ रही है। पर लिखने वाले ज़्यादातर 'उपन्यास' ही की तरफ़ अधिक झुकते हैं सो भी मौलिक नहीं। अनुवाद और छायानुवाद ही की तरफ़ लोगों की प्रवृत्ति अधिक है। इस समय दो एक उच्च श्रेणी के मौलिक उपन्यास तथा गल्प लेखक बहुत अच्छी साहित्य सेवा कर रहे हैं पर जैसी उन्नति उपन्यास की हो रही है, उसका दशांश भी नाटक की नहीं। इनके बाद मौलिक निबंध तथा साहित्यिक समालोचना का नम्बर आता है। मासिक पत्रों के प्रचार से निबंध और समालोचना में भी अच्छी उन्नति हो रही है पर वह सन्तोषजनक नहीं है। लेख बहुधा मौलिक नहीं होते। लोग बहुधा किसी पुराने लेखक की कृतियों की 'रिभ्यू' कर डालते हैं या बहुत हुआ तो किसी कवि के किसी पहलू को लेकर उसी की बातों को अपनी भाषा में लिख डालते हैं। आधुनिक समालोचक भी विशेषतः गुण-दोष-निरीक्षण ही तक रह जाते हैं, आलोच्य विषय के लेखक के अन्तस्तल तक नहीं पहुँच पाते और न पहुँचने की यथार्थ चेष्टा करते हैं। इन चारों गद्य के मुख्य अँगों, नाटक उपन्यास और गल्प, निबंध, तथा समालोचना के विकास के बारे में संक्षिप्त रूप से अलग अलग विचार आगे किया जायगा।

नाटक

हिन्दी गद्य साहित्य का आधुनिक काल सन् १९०० ई० से शुरू होता है। इस समय के पहले नाटकों की गति बहुत मन्द थी। हरिश्चन्द्र के पिता का लिखा हुआ "नहुष" नाटक हिन्दी का पहला नाटक माना जाता है। इसके बाद बाबू हरिश्चन्द्र जिनके बारे में हम पहले लिख चुके हैं नाटक का झंडा लेकर हिन्दी संसार में अवतीर्ण हुए। इन्होंने नाटकों के द्वारा अपने देश वासियों का ध्यान उर्दू से हटाकर हिन्दी साहित्य की ओर आकृष्ट करने की प्राणपण से बड़ी चेष्टा की थी और अपने इस महान् उद्देश्य में बहुत कुछ सफल भी हुए थे। उन्हें किशोरावस्था में ही बङ्गाल घूमने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। बङ्गला साहित्य की उन्नत अवस्था देख कर उन्हें बड़ा उत्साह हुआ और उन्होंने सब से पहले "विद्यासुन्दर" नामक एक बङ्गला नाटक का ही हिन्दी में अनुवाद किया; फिर कुछ संस्कृत के नाटकों का भी अनुवाद किया। उनमें सबसे प्रसिद्ध उनका "सत्य हरिश्चन्द्र" है जो कि संस्कृत के "चण्ड-कौशिक" का अनुवाद है। यद्यपि कुछ लोग "सत्य हरिश्चन्द्र" को उनकी मौलिक रचना कहते हैं पर ऐसा वही लोग कह सकते हैं जिन्होंने "चण्ड कौशिक" नहीं देखा है। कुछ आवश्यक हेर-फेर अवश्य बाबू हरिश्चन्द्र ने किया है पर वह ऐसा नहीं कि उनका नाटक अनुवाद न कहा जा सके।

"कर्पूर मञ्जरी" और "रत्नावली" के अनुवाद भी इनके बहुत अच्छे हुए हैं। अंगरेज़ी में शेक्सपियर के भी कुछ नाटकों का अनुवाद इन्होंने किया है जिनमें (Merchant of Venice) का अनुवाद बहुत प्रसिद्ध है।

भारतेन्दु जी के मौलिक नाटकों में "चन्द्रावली" बहुत प्रसिद्ध है पर कला की दृष्टि से इनकी एक छोटी सी नाटिका "नीलदेवी" को हम सर्वोत्तम कहेंगे। इनके गद्य का सबसे अच्छा नमूना इनके एक छोटे से प्रहसन "भारत दुर्दशा" में देखने में आता है। इनके मौलिक नाटकों को देखने से ज्ञात होता है कि इन नाटकों के लिखने में इनके मुख्य उद्देश्य तीन रहे होंगे। पहला उद्देश्य तो यही था कि किसी प्रकार हिन्दुस्तानियों का हिन्दी भाषा तथा साहित्य के प्रति अनुराग उत्पन्न हो। दूसरा उद्देश्य नैतिक था। अपने देशवासियों की सामाजिक कुरीतियों तथा परतन्त्रता तथा शिक्षा-विमुखता आदि से भारतेन्दु जी की आत्मा को महान् दुःख था। ये अपने नाटकों के द्वारा हिन्दुस्तान की मृतप्राय जनता में स्वदेश प्रेम, स्वतन्त्रता, वीरता, आत्माभिमान इत्यादि उच्च भावों के मन्त्र फूँकना चाहते थे। इनका अन्तिम और शायद सबसे अधिक महत्व पूर्ण उद्देश्य हिन्दी भाषा को सुधारने तथा उसकी शैली को एक निश्चित दिशा की ओर घुमाने का था। जैसा कि हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि पं० नाथू राम शंकर शर्मा ने प्राचीन और नवीन महा कवियों के संस्मरण में एक जगह सरस्वती की कृपा का उल्लेख करते हुए कहा है और बिल्कुल ठीक कहा है। "मुख्य मान पात्र देश भाषा परिशोधन का

भारत के इन्दु हरिश्चन्द्र को खिला चुकी" । इनतीनों ही उद्देश्यों में उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। इतना तो कमसे कम अवश्य इनके नाटकों से हो गया कि लोग हिन्दी की ओर बड़े चाव से झुकने लगे, कुछ प्रतिभाशाली लेखक नाटक लिखने की ओर झुके और जगह जगह अभिनय के निमित्त कुछ नाट्य समितियाँ भी खुलने लगीं। काशी में इन्हीं के नाम से "भारतेन्दु नाटक मंडली" की स्थापना हुई। इसकी देखा-देखी प्रयाग में भी दो एक नाटक मंडलियों के दर्शन हुए, ऐसी नाट्यसमितियाँ तो बहुत सी खुल गईं पर इनके लिये नये नाटककारों की बड़ी कमी थी। कुछ दो एक इने गिने लोग ही ऐसे देख पड़ते थे जो खेलने के लिये नाटक लिखने का कष्ट उठाना स्वीकार करते हों या जिनमें ऐसे नाटक लिखने की क्षमता हो। उपन्यास की ओर लेखकों की प्रवृत्ति अधिक हो चली थी। यदि कुछ लोग नाटक लिखते भी थे तो वे बहुधा अभिनय के सर्वथा अनुपयुक्त होते थे। उनके नाटकों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि लेखक को रंग मञ्च की कठिनाइयों के बारे में शायद कुछ भी नहीं मालूम है। ऐसे नाटककारों में सबसे पहले राय देवी प्रसाद "पूर्ण" का नाम आ जाता है। ये भारतेन्दु जी के समसामयिक और बड़े प्रतिभाशाली थे पर ज़रा पुराने ढर्रे के साहित्यज्ञ थे। इन्होंने "चन्द्रकला भानुकुमार" नामक एक नाटक क्या 'महा नाटक' बड़े बड़े सात अङ्कों का लिख डाला। यह जिस रूप में है वैसे तो इसको रङ्ग-मञ्च पर खेला जाना असम्भव है, और यदि कोई इसे 'स्टेज करने' का दुस्साहस कर ही बैठे तो शायद सारी रात ख़तम हो जाय और

दर्शकों में से शायद ही कोई प्रथम अङ्क के बाद तक बैठने का धैर्य धारण कर सके। इसके सिवाय नाटक में जङ्गलों में पहाड़ों के दर्रों में से शेरों का निकल कर नाटक के एक पात्र पर आक्रमण करना और फिर एक दूसरे पात्र द्वारा उस शेर का मारा जाना इत्यादि कुछ ऐसी बातें हैं जिनको आज कल की प्रसिद्ध नाटक कम्पनियाँ सब प्रकार के आधुनिक वैज्ञानिक उप-करणों के रहते हुये भी रङ्ग-मञ्च पर नहीं दिखला सकतीं। फिर इस नाटक में कविता और गीत (lyric lement) का भाग इतना अधिक है कि यह एक प्रकार से एक बड़ा "गीति रूपक" (Opera) भी कहा जा सकता है।

उस समय के अधिकतर प्रायः सभी नाटककार कुछ इसी ढंग की असावधानी कर जाया करते थे। "पूर्ण" जी का हमने नमूने के ढंग पर यहाँ उल्लेख कर दिया। बाबू राधा कृष्णदास, भी जिनके "महाराणा प्रताप" की कुछ दिन तक अच्छी 'शोहरत' रही, इन दोषों से मुक्त नहीं थे। यह नाटक उतना बड़ा तो नहीं है पर और सब त्रुटियाँ ज्यों की त्यों इसमें भी हैं, तथापि उस समय के रंगमञ्च ने "महाराणा प्रताप" का बड़े जोरों से स्वागत किया।

इसी समय के आसपास बाबू श्री निवासदास ने "रणधीर प्रेममोहिनी", "संयोगिता स्वयंवर" और "तप्तासंवरण" नाम के तीन नाटक लिखे। ये नाटक, विशेषतः "रणधीर प्रेममोहिनी" कला की दृष्टि से अवश्य उस समय के अन्य नाटकों से उच्चतर निकले। इसके कई कारण हैं पर मुख्य यह है। सबसे पहले यही

महाशय संस्कृत नाटकों की परम्परागत शैली के बन्धनों से छूट कर स्वतन्त्र हो गये। "पूर्ण" जी के "स्कूल" के नाटककार, संस्कृत नाट्यशास्त्र (Dramatergy) के नियमों का अक्षरशः पालन करने की चेष्टा करते थे। इससे होता यह था कि संस्कृत नाटकों के प्रधान गुण तथा उनकी वास्तविक सुन्दरता को जिनके कारण कुछ नाटकों को संसार के साहित्य में उच्चतम स्थान दिया जा चुका है, ये हिन्दी के नाटक कार नहीं पाते थे, हाँ, उनके (संस्कृत नाटक कारों के) दोष इनकी कृतियों में अवश्य अपनी पूर्ण कला से सुशोभित पाये जाते हैं। संस्कृत नाटक कारों का मुख्य उद्देश्य होता था, रसिकों को "रस" का आस्वादन कराना। वे आदर्शवादी (Idealist) होते थे। दुःखान्त वर्णन उनके सिद्धान्तों के विरुद्ध था। "रस" की उत्पत्ति ही उनका ध्येय था। संस्कृत के सबसे अधिक प्रसिद्ध नाटक कार "कालिदास" और "भवभूति" जाति के ब्राह्मण थे और जीवन विषयक अपने सिद्धान्तों (Brahmanical theory of life) का रचना के समय अक्षरशः पालन करते थे। प्रायः सभी नाटककार "शृङ्गार" रस को ही अपनाते थे और किसी प्रख्यात वंश के राजा को नायक बनाते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि ये नाटककार अधिकतर इस समय के किसी न किसी राजा महाराजा के आश्रित होते थे और उन्हीं को सन्तुष्ट करने के लिये नाटक लिखते थे और उसमें दिखाई हुई घटनायें विशेषतः ऐसी होती थीं जो रूपान्तर से उनके आश्रय-दाताओं से सम्बन्ध रखती थीं तथा उन्हीं पर घटती थीं। नाटक का जो उद्देश्य आधुनिक पाश्चात्य

विद्वान निर्धारित करते हैं, ऐसी स्थिति में, संस्कृत नाटककारों द्वारा उसकी कल्पना भी असम्भव थी। सब विषयों में "स्वाभाविकता" आज कल के नाटकों में एक बड़ी भारी बात मानी जाती है। समालोचक या दर्शक किसी नाटक के सामने आते ही सबसे पहले यही देखता है कि स्वाभाविकता का पालन कहाँ तक अमुक नाटककार ने किया है। हर बात में जैसे कथोपकथन, वस्तु-विन्यास, देशकाल, चरित्र-चित्रण, भाषा, वेश-विन्यास, सीन-सिनरी और अन्त में उद्देश्य आदि नाटक सम्बन्धी जितनी मुख्य बातें हैं सभी में समालोचक की दृष्टि सबसे पहले स्वाभाविकता पर जाती है। "अमुक अवस्था अथवा अमुक परिस्थिति में अमुक पात्र के लिये ऐसा करना या कहना स्वाभाविक होगा कि नहीं" बस यही प्रश्न सबसे पहिले दर्शकों और समालोचकों के मन में अपने आप उठता है, बल्कि यह कहिये कि इसी कसौटी से नाटकों के खरे या खोटेपन की जाँच होती है। पर संस्कृत नाटक कारों के समय यह बात नहीं थी। उस समय कसौटी यही थी कि किसी रचना से 'रस' का उद्रेक होता है कि नहीं। इसीलिये जहाँ किसी मधुर छन्द में किसी नायिका के सुकुमार अङ्गों की छबि उतारी गई और जहाँ उसके मुँह से शृङ्गार विषयक कोई पद्य कहलाया गया तहाँ रस का उद्रेक हुआ। यही काफ़ी था उस समय के लिये, पर अब वह समय नहीं रहा और ऐसे समय यदि कोई भाषा का नाट्यकार उन नाटकों के ढंग पर लिखने की चेष्टा करे तो फिर उसे आज कल जमाने में सफलता की आशा भी कभी नहीं करनी चाहिये। पर ऐसी भूल हिन्दी के अधिकांश पहले के नाट्यकार

कर गये हैं, और अब भी कोई कोई ऐसी भूल कर ही बैठते हैं। अब आदर्शवादी लेखकों के लिये दुनिया में ठिकाना नहीं रहा। और यह शायद इसलिये कि इस समय संसार आदर्श को भूलकर मनोमुख-स्वेच्छाचारी हो रहा है क्या उपन्यास क्या नाटक दोनों ही में अच्छे वही समझे जाते हैं जिनमें यथार्थवादिता आद्योपान्त हो। दुनिया इस समय बहुत यथार्थप्रिय हो रही है। वह साहित्य में भी ऐसे ही पात्रों से साक्षात्कार करने के लिये तैयार है जिनसे वह पूर्णरूप से सहानुभूति करने के लिये प्रस्तुत हो और जिनकी हरकतें ऐसी हों जैसी आज कल के अधिकतर नरनारियों की होती हैं। राम और सीता को हम हिन्दू के नाते पूज्य दृष्टि से अवश्य देखते हैं, पर उनके अलौकिक अथवा देवोपम व्यवहार से हमको क्रियात्मक सहानुभूति नहीं होती। वह जो कुछ कहते हैं, ठीक ही करते हैं, उनसे भूल हो ही नहीं सकती, किसी प्रकार की दुर्बलता उनमें नहीं है, वह साधारण मनुष्यों की भाँति हर्ष, विषाद, काम, क्रोध आदि के 'शिकार' भी नहीं बनते, वह सब कुछ कर सकते हैं; वह ईश्वर हैं, पर इस समय नाटक के पात्र की हैसियत से हमें उनके ऐसे पात्रों से कोई सहानुभूति नहीं उत्पन्न होती क्योंकि हम जब अपने को उनकी जैसी परिस्थितियों में पहुँचाना चाहते हैं तो अपने व्यवहारों को उनके व्यवहारों से एक दम भिन्न देखते हैं। इस समय नाटकों में ऐसे पात्रों की ज़रूरत है जिनके व्यवहार ठीक हमारे जैसे जन साधारण के से हों, पर परिस्थितियों के अनुसार हमें पढ़ते या देखते समय ऐसा न मालूम होना चाहिये कि ये (पात्र) किसी दूसरी ही दुनिया के

जीव हैं। दूसरी त्रुटि जो संस्कृत नाटकों के ढंग पर लिखे हुए नाटकों में पाई जाती है वह यह है कि उनमें नाट्य (action) का विकास बहुत शिथिल होता है। साट में बहुत सी बातें ऐसी भर दी जाती हैं जो वस्तुविन्यास में कुछ भी सहायता नहीं पहुँचाती। इनसे नाटक की गति बहुत मन्द हो जाती है और आधुनिक दर्शक का जी ऊब जाता है। आज कल के पाश्चात्य नाटकों और छाया नाटकों (films) में उत्तम वही समझे जाते हैं जिनकी गति बहुत वेग पूर्ण हो। एक बात और जिसका आधुनिक नाट्यकार हर घड़ी बड़ा ध्यान रखता है वह यह है कि अन्तिम दृश्य तक दर्शक या पाठक के मन को उत्कण्ठा (suspense) में रक्खा जाय और किसी भी प्रकार उसे पहले ही अन्तिम फल की सूचना या आभास न मिलने पावे। इसका कारण यह है कि फल की सूचना पहिले ही मिल जाने पर आधी रोचकता या उत्सुकता (interest) उसी समय लुप्त हो जाती है। संस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमानुसार नाटक में पाँच अर्थ प्रकृतियाँ (stages of development) होती हैं उनमें पहली का नाम "बीज" (germ) होता है। इसमें उद्देश्य अर्थात् फलागम की सूचना अन्योक्ति रूप से आरम्भ ही में दे दी जाती है। इसके उपरान्त इतना सभी को मालूम रहता है कि अन्त में नाटक सुखान्त ही होगा बीच में चाहे नायक नायिका सब प्रकार का वियोग सह लें। हिन्दी में भी संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार लिखनेवाले ऐसा ही करने के लिये अपने को बाध्य समझते हैं, इससे होता यह है दिलचस्पी एक दम जाती रहती है। कोई कोई

संस्कृत के नाटककार फल की सूचना प्रकारान्तर से दे देने पर भी उत्सुकता बड़ी चतुरता से बनाये रखते हैं पर इनके अनुकरण में हिन्दीवाले ऐसा नहीं कर सकते। अस्तु

हिन्दी नाटककारों की त्रुटियों की विशद विवेचना करने का यहाँ स्थान नहीं है, हमारा प्रसंग यह था कि पहले-पहल बाबू श्री निवास दास ही सस्कृत नाट्य-शास्त्र के चंगुल से बाहर होते दिखाई दिये और अपने नाटक "रणधीर प्रेम-मोहिनी" को सोलहो आने 'ट्रेजिडी' (दुःखान्त) बनाया। इनके 'स्टाइल' से पता चलता है कि इन्होंने पाश्चात्य नाटकों का अध्ययन किया है; पर इनमें भी और बहुत से दोष आ गये हैं। इनका नाटक आधे के क़रीब पढ़ते ही ऐसा मालूम होने लगता है, मानो लेखक इसे ख़ामख़ाह के लिये ट्रेजिडी बनाने के लिये उत्सुक है। वस्तु-विन्यास रोचक नहीं है। चरित्र चित्रण की ओर अवश्य ध्यान दिया गया है पर कथोपकथन कहीं-कहीं नितान्त अस्वाभाविक हो गया है। इनके पात्र अपनी-अपनी जातीयता और सामाजिक स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की 'बोलियाँ' (dialects) बोलते हैं। यद्यपि कुछ अंशों तक यह प्रथा नाटक की स्वाभाविकता में वृद्धि करती है; पर इसकी 'अति' हो गई है। इस नाटक में एक मारवाड़ी बनियाँ है, उसकी भाषा हम लोग प्रायः नहीं समझ पाते। मुंशी सुखबासीलाल उर्दू क्या बिलकुल फ़ारसी बोलते हैं और इधर चौबे जी ठेठ व्रजभाषा में वार्तालाप करते हैं। इन सब बातों के होते हुये भी लाला श्री निवासदास का कार्य हिंदी के नाटक संसार में इसलिये बड़ा महत्व-पूर्ण है कि इन्होंने पहले-पहल

हिंदी में ट्रेजिडी लिखने का रास्ता साफ़ किया और संस्कृत नाटक-शास्त्र के बंधन से मुक्त होकर यथार्थ नाटक (Realistic drama) लिखने की नींव डाली।

इसके बाद नाटकों में अनुवादों की भरमार शुरू हुई। लोगों में अभी मौलिक नाटक लिखने की प्रतिभा नहीं दिखाई देती थी; पर 'पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों के प्रताप से 'तमाशा' देखने के शौक़ीनों की सख्या बड़े ज़ोरों से बढ़ती जा रही थी। इन नाटक कम्पनियों ने यद्यपि प्रायः सब खेल उर्दू में ही लिखवाये, पर इन्होंने इतना अवश्य किया कि सर्वसाधारण में नाटक का 'चस्का' पैदा कर दिया। हिंदी में लिखे हुए खेलों को ये कम्पनियाँ इसलिये नहीं अपनाती थीं कि एक तो सर्वसाधारण की रुचि उर्दू की ओर अधिक देख पड़ती थी, संस्कृत मिश्रित हिंदी से उर्दू को लोग ज्यादा अच्छी तरह समझते थे और इन कम्पनियों के मालिक और अभिनेताओं में मुसलमानों की संख्या अधिक होती थी और अब तक है। मुसलमान तथा पारसी दोनों ही को उर्दू नाटक इसीलिये अधिक वांछनीय होते हैं कि एक तो उर्दू या फ़ारसी को अपनी निज की भाषा सी समझते हैं और संस्कृत मिश्रित उच्च हिंदी के वाक्यों का स्वाभाविक उच्चारण इनके द्वारा हो ही नहीं सकता। इन्हीं कारणों से कुछ दिन तक "ख़ूबसूरतबला" "शीरीं फ़रहाद" "ख़ूने नाहक़" आदि फड़कते हुए नाटकों का ख़ूब बोल-बाला रहा और अब भी इस कोटि के नाटकों का अंत नहीं हुआ है "अलफ़्रेड" आदि प्रसिद्ध पारसी कम्पनियाँ आज भी बड़ी धूम-धाम से चली जा रही हैं और

उसी प्रकार के नाटक खेल रही हैं। इनके नाटकों का साहित्यिक मूल्य बहुत कम होता है, नायक-नायिकाओं के प्रेमालापों में अश्लीलता की और भद्दे मज़ाकों की भरमार रहती हैं। पात्रों के मुँह से कभी-कभी ऐसे अशिष्ट और अश्लील शब्द या मुहाविरे कहलाये जाते हैं, जिन्हें कोई भी सभ्य भद्र-समाज में कहना या सुनना अत्यन्त लज्जा और अपमान की बात समझेगा। यह पारसी कम्पनियों के बारे में ख़ास शिकायत है। दूसरी खटकनेवाली बात इनके यहाँ गाने और नाच की भरमार है। कला की दृष्टि से गंभीर नाटक में गानों को एक दम दूर रखना ही विद्वानों ने उचित समझा है; पर यहाँ तो यह हाल है कि कोई भी पात्र मरते-मरते भी एक गाना गा जाता है। रोने की बात भी गाकर ही सुनाता है, चाहे पुरुष पात्र हो या स्त्री सब गाना गाते हैं और ऐसे बेमौक़े गाते हैं कि उस समय कोई भी कला को समझनेवाला सिर धुनने लगेगा। मुख्य बात यह है कि ये नाटक साहित्य, भाषा या जन-समाज की नैतिक, मानसिक अथवा सामाजिक उन्नति के उद्देश्य से नहीं लिखे जाते। इनका उद्देश्य केवल द्रव्योपार्जन होता है। 'मनचले' दर्शकों तथा शौक़ीन "तमाशबीनों" की दुर्बलता और कला-विषयक अनभिज्ञता से अनुचित लाभ उठाते हैं। उत्तरदायित्व को समझनेवाले नाटककार का कर्त्तव्य होना चाहिये कि वह जन-समाज की रुचि को परिमार्जित करे और विशुद्ध-कला का प्रेमी तथा उपासक बनाने की चेष्टा करे; पर तभी हो सकता है जब कि नाटक रचयिता स्वयं वैसा हो। प नाटक संसार में भी बहुत से ऐसे नाटककार हैं जो केवल

वातावरण में खेले जाने लायक ही ड्रामा लिखते हैं पर वहाँ समाज की भिन्न भिन्न स्थिति के जन समुदाय के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की कम्पनियाँ और लेखक हैं। वहाँ के एक बहुत बड़े समुदाय का 'नित्यनेम' सा है कि वे दिन भर कठिन काम या मज़दूरी आदि करते हैं और रात में 'बिला नाग़ा' तमाशा देखते हैं। पर इसके साथ ही उच्च कोटि के साहित्य तथा कला की दृष्टि से सर्वथा दोष-रहित नाटक भी निकलते रहते हैं। हमारी पारसी कम्पनियों के यहाँ तो बस तमाशा ही तमाशा है, साहित्य और कला के प्रेमी को दूसरा घर देखना चाहिये। सीन सीनरी और बाहरी तड़क-भड़क में तो इनको शायद ही कोई पाता हो और 'तमाशे' के प्रेमी को और चाहिये ही क्या। इनमें एक महाशय आग़ा हश्र "कश्मीरी" नाम के हैं जिनके कुछ नाटक साहित्य और कला की दृष्टि से भी उच्च कोटि के हुए हैं जैसे "यहूदी की लड़की" "आँख का खता"। एक विचित्र बात यह है कि 'आगाहश्र' हिन्दी में भी बहुत अच्छी तरह लिख सकते हैं यह इन्होंने "आँख की खता" लिखकर सिद्ध कर दिया है। यह नाटक मामूली बोल चाल की भाषा में लिखा गया है और साट सामाजिक और मेरे विचार में एक प्रकार से बहुत कुछ दोष-रहित है। इनमें नाटक लिखने की प्रतिभा के बारे में किसी को सन्देह नहीं हो सकता, पर हिन्दी में लिखते समय इनको यह आशङ्का बनी रहती है कि इनके नाटकों को हिन्दी संसार अपनावेगा कि नहीं। हिन्दी साहित्यिक महारथियों को चाहिये कि इनकी कृतियों को यथोचित आदर के साथ ग्रहण करें। अस्तु, हिन्दी साहित्य के लिये नाटक

लिखने का जो मार्ग भारतेन्दु जी ने दिखाया था उसका अनुसरण उनके परवर्ती लेखकों ने नहीं किया। उनके समय के लेखक-मंडल ने भारतेन्दु जी के ही ढंग के कुछ नाटक लिखे उनमें मुख्य ये हैं :—

भारत सौभाग्य,
वारांगना रहस्य,
प्रयाग रामागमन,
वृद्ध विलाप
} उपाध्याय पं० बदरी नारायण चौधरी

कलिकौतुक रूपक
कलि प्रभाव
हठी हमीर
गो सङ्कट
शकुन्तला
जवारा ख़ुवारी
} पं० प्रताप नारायण मिश्र

केटो कृतांत—बाबू तोताराम

ललिता नाटिका
मरहट्टा नाटक
भारत सौभाग्य
गो संकट नाटक
} पं० अम्बिका दत्त व्यास

इन लेखकों के साथ ही बाबू श्री निवास दास तथा राधाकृष्ण दास का नाम आता है। इनके लिखे हुए नाटकों की चर्चा ऊपर हो चुकी है। बस इन लेखकों के बाद नाटकलेखन कार्य में बड़ी शिथिलता आ गई, या यों कहिये कि कुछ समय के लिये हिन्दी में नाटक लिखना बन्द ही हो गया। स्मरण रखना चाहिये कि ऊपर

के सब नाटक १९ वीं शताब्दी के अन्तिम हिस्से (सन् १८५५—१९०० ई०) के भीतर ही भीतर के लिखे हुए हैं। उपन्यास में तो जो लोगों ने एक दफ़े हाथ लगाया तो आज तक काम ढीला नहीं हुआ और दिन पर दिन उपन्यास लिखने वाले निकलते चले आ रहे हैं पर यही बात, बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है, नाटकों के सम्बन्ध में न हुई, इसका यथार्थ कारण तो परमात्मा जाने, पर प्रगट रूप से मुख्य कारण दो मालूम होते हैं। हिन्दी नाटकों के लिये रङ्गमञ्च का नितान्त अभाव था और अब भी है। व्यापारी कम्पनियाँ हिन्दी नाटकों को पास नहीं फटकने देती थीं। इसकी वजह से जो हिन्दी नाटक लिखे भी जाते थे उनका कहीं अभिनय नहीं होता था, और नाटकीय साहित्य की सफलता तथा उन्नति यहाँ तक कि उसका अस्तित्त्व अभिनय पर ही निर्भर करता है। नाटक खेलने के लिये लिखे जाते हैं न कि केवल पढ़ने के लिये। दो-एक मंडलियों ने हिंदी के नाटकों के खेलने का प्रयत्न किया भी पर उनको देखने के लिये दर्शक ही नहीं मिलते थे। इसका कारण यह था कि हिंदी के नाटक विशेषतः संस्कृत नाटकों के ढंग पर लिखे जाते थे और कुछ हरिश्चंद्र के लिखे हुये नाटकों के ढंग पर; पर इस प्रकार के नाटकों में विनोद की सामग्री बहुत कम थी और इनके लेखक बहुधा स्टेज़ की कठिनाइयों तथा नियमों का ध्यान न रखते थे; पर हमारे हिंदी के नाटककार इन नियमों को जानते तो थे ही नहीं ध्यान में कहाँ से रक्खें। हमारे यहाँ के लेखकों ने एक बड़ी भारी भूल यह करनी शुरू की कि वे सब तरफ़ टाँग अड़ाने लगे। कभी किसी पत्र का सम्पादन

करते तो कभी उपंयास लिखने लगते, कभी कविता में अपनी प्रतिभाशक्ति की परीक्षा करते तो कभी-कभी नाटक एकाध नाटक भी लिख डालते थे। 'हम यह भी लिख सकते हैं और वह भी, और, वह भी', बस यह एक बड़ी भारी बात समझी जाने लगी। पं० प्रतापनारायण मिश्र जी को ही लीजिये, यह पत्र (ब्राह्मण) का सम्पादन तो करते ही थे, ड्रामा भी लिखने लगे। पं० बदरी-नारायण जी ने कोई भी 'ब्रांच' बाकी नहीं छोड़ी।

क्या लेख, क्या कविता, क्या नाटक, क्या उपंयास सभी में लोग हाथ लगा देते थे। इसमें होता यह था कि कोई लेखक किसी एक विषय में सिद्धहस्त न हो पाता था। बड़े-बड़े पाश्चात्य विद्वानों में क्या ख़ास बात है, वे जिस विषय को लेते हैं, उसी के पीछे पड़ जाते हैं और सारा जीवन उसी एक विषय के पारंगत होने में लगा देते हैं। वहाँ के बड़े-बड़े नाटककारों को लीजिये। वे नाटक को छोड़ कर तथा उससे स्वाभाविक संबंध रखने वाले विषयों के अतिरिक्त और प्रकार के कामों में भूलकर भी हाथ नहीं डालते। अपने जीवन का बहुत सा समय संसार के उत्तमोत्तम नाटकों के अध्ययन तथा विभिन्न देशों की नाट्य-शालाओं की अवस्था, उनके नियम और संचालन प्रणाली, विभिन्न देशों की अभिनय प्रणाली तथा संसार के बड़े-बड़े अभिनेताओं के रंग-ढंग तथा उनकी कठिनाइयों का वहाँ विशद अध्ययन करते हैं और स्वयं भी समय समय पर अभिनय करते रहते हैं और अच्छे नाटकों के अभिनय को बड़े ध्यान से देखते हैं। यदि ऐतिहासिक नाटक

लिखना हुआ तो उस समय के इतिहास, रहन-सहन, बोल-चाल, 'तर्ज़ माशरत' वेश भूषा इत्यादि नाटक से संबंध रखने वाले मुख्य विषयों से अच्छी तरह अवगत होने में वर्षों बिता देते हैं। कारण यह है कि वहाँ यदि किसी अच्छे नाटककार की कृति में इन विषयों की कोई असंगत बात निकलती है तो वहाँ प्रेस में और पत्रों में बड़ी उग्र समालोचना होती है और अभिनय के समय भी दर्शक-गण हल्ला मचाकर नाटककार की दिल्लगी उड़ा देते हैं। इन कारणों से वहाँ के नाटक कार अपने उत्तरदायित्व को बहुत अच्छी तरह समझते हैं। वे अपने नाटकों में प्रत्येक सीन का, प्रत्येक पात्र की वेशभूषा, चाल-ढाल सूरत शकल तथा बोल-चाल के ढंग का पूरा ब्योरा हरेक अंक के पहले तथा जहाँ ज़रूरत होती है दे देते हैं और इसे नाटक कार की हैसियत से अपना अधिकार समझते हैं कि उन्हीं के दिये हुये आदेशों के अनुसार उनका नाटक खेला जाय, नाटकों के डाइरेक्टर और मैनेजर भी अपने को उन देशों के अनुसार काम करने के लिये बाध्य समझते हैं। इन्हीं बातों से पाश्चात्य नाटक का आदर्श बहुत ऊँचा हो गया है। हमारे नाटक कार आज भी अपने उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करते हैं, जो मन में आया, लिख मारा। किसी का प्रयास भाषा को उच्च बनाने में ही समाप्त हो जाता है तो कोई रस और भाव की उत्पत्ति पर अधिक ध्यान देता है। एक नाटककार को जिन सब बातों का जनता अनिवार्य है उनसे शायद कोई भी अवगत नहीं होते और न होने की चेष्टा ही करते हैं। अब आधुनिक समय में हिंदी के श्रेष्ठ

नाटक कार श्रीयुत् जयशंकर "प्रसाद" जी कहे जाते हैं। आप नाटक तो लिखते ही हैं; पर आप केवल नाटक ही नहीं, साहित्य के सभी अंकों पर समान रूप से आक्रमण करते हैं। आप गल्प (short stories) भी लिखते और कविता भी काफी करते हैं। तात्पर्य यह कि सभी तरफ़ टाँग अड़ा रहे हैं। किसी एक विषय के पीछे हाथ धोकर नहीं पड़ रहे हैं। इन्हीं कारणों से हिंदी नाटक की अभी तक उन्नति नहीं हो पाई, पर आज भी हिंदी-साहित्य के 'कर्णधार' लेखक यदि सब बातें जान-बूझकर भी ऐसा न करें तो इसे हिंदी-साहित्य का घोर दुर्भाग्य ही समझना चाहिये।

होनहार लेखक एक दफ़े समझ लेता है कि उसकी प्रतिभा किस ओर अधिक बेग से झुकती है, बस फिर वह सब तरफ़ से मुँह मोड़कर उसी तरफ़ दत्तचित्त हो जाता है और कुछ कर दिखाता है। साहित्य के विभिन्न अङ्गों की सेवा करते हुये सारा जन्म यही निर्धारित करने में न बिता देना चाहिये कि हमारी प्रतिभा किधर है।

हमारे कथन का सारांश यही है कि इन ऊपर लिखे हुये कारणों ही से भारतेंदु के अस्त होने के कुछ ही दिन बाद हिंदी नाटक का प्रवाह एक प्रकार से बंद हो गया और इस समय नाटकों के द्वितीय उत्थान के समय नये होनहार लेखक फिर कुछ उसी तरह की भूल कर रहे हैं।

वर्तमान समय और भारतेंदु काल के बीच के समय में अच्छे नाटकों के अनुवाद बहुत से हुये। इन अनुवादकों में सबसे पहले काशी के 'भारत-जीवन' के अध्यक्ष बाबू रामकृष्ण

वर्मा का नाम आता है। इनके अधिकतर अनुवाद बंगला के नाटकों के हैं; जैसे—"वीर नारी", "कृष्ण कुमारी", "पद्मावती" इत्यादि। इनके अनुवाद साधारणतया अच्छे होने पर भी उनमें मौलिक नाटक की यथार्थ सुन्दरता का समावेश न हो सका।

इसके बाद गहमर निवासी प्रसिद्ध औपंयासिक बाबू गोपाल-राम ने "बभ्रुवाहन", "देश-दशा", "विद्या-विनोद" और डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर के "चित्रांगदा" नाटक का अनुवाद किया इनके कुछ ही पहले पुरोहित गोपी नाथ एम० ए० ने शेक्सपियर के दो नाटकों "रोमियो जूलियट" और "ऐज़ यू लाइक इट" के अनुवाद निकाले थे।

इसके बाद स्व० बाबू द्विजेन्द्र लाल राय के अनुवादों की धूम मची। ये महाशय बंगला के शेक्सपियर समझे जाते हैं। इनके बहुत से नाटक जैसे 'शाहजहाँ', 'नूरजहाँ', 'चन्द्रगुप्त' 'दुर्गादास', 'मेवाड़ पतन' आदि बड़े ही सर्वप्रिय हुए और हिन्दी में इस समय प्राय: उनके अच्छे बुरे सभी नाटकों का अनुवाद हो गया है। इनके अनुवादकों में सबसे प्रसिद्ध पं० रूपनारायण पाण्डेय हैं। इनकी भाषा विशेषत: संस्कृत पूर्ण होती है पर साधारण तौर से इनके अनुवाद औरों से अच्छे ही होते हैं। डी० एल० राय के गायनों के अनुवाद इनके उतने अच्छे नहीं होते। राय बाबू के नाटक इधर इतने लोक प्रिय हुए कि जहाँ कहीं किसी को कोई नाटक खेलना हुआ तो वह पहले इन्हीं के नाटकों को देखता था। विशेषत: विद्यार्थियों में इनके नाटकों का बड़ा आदर है। इसका प्रधान कारण यह है कि इनके नाटक बड़े सुरुचि-पूर्ण होते हैं और

बड़े उच्च आदर्श को सामने रखकर लिखे गये हैं। इनका वस्तु-विन्यास इतना मनोरम और सरल होता है कि उनको 'स्टेज' करने में बहुत दिक्कत नहीं उठानी पड़ती। इनके नाटक ऐतिहासिक ही हैं, अधिकतर, और उनमें प्रत्येक में आर्यजाति का गौरव बड़ी ज्वलन्त भाषा में तथा बड़ी युक्ति से वर्णित है। मुख्य बात तो यह है कि इनका आदर्श पाश्चात्य है और इनका प्लाट भी वैसा ही वैज्ञानिक होता है। चरित्र-चित्रण पर बहुत अधिक ज़ोर दिया जाता है और मनोवेग (emotion) ही की प्रधानता सब जगह रखी जाती है। प्लाट में कोई भी भाग यथा सम्भव ऐसा नहीं रखा जाता जिसका मुख्य वस्तु से कोई सम्बन्ध न हो और इनका बड़ा से बड़ा नाटक भी अधिकतर चार 'ड्राप' में ही समाप्त हो जाता है। राय महाशय स्वयं गान विद्या और नाट्य कला के विशेषज्ञ थे, उनके नाटकों की उत्तमता और सफलता का यह भी मुख्य कारण है। इनके नाटकों को देखते ही मालूम हो जाता है कि वे स्टेज को हर वक्त ध्यान में रखते होंगे क्योंकि ऐसी उट-पटांग बातें उनमें शायद ही कभी आती हों जिनका स्टेज पर दिखलाना असम्भव हो। इनके पात्रों की संख्या बहुत अधिक कभी नहीं होती। मुख्य पात्र पाँच या छ से अधिक प्रायः नहीं होते और तीन या चार पात्रियाँ। हाँ इतनी कमी उनके नाटकों में भी अवश्य रह गई है कि वे भी रङ्गमंच के आदेश (Stage Directions) बहुत कम या कहीं कहीं बिल्कुल नहीं देते। ज्यादातर उनके आदेश बस इतने में ही खतम हो जाते हैं जैसे 'स्थान आगरे का क़िला' 'समय संध्या' बस। लिखते तो हैं वह ऐतिहा-

सिक नाटक पर उनके पात्रों की वेश भूषा तथा वस्त्रालङ्कार कैसे होने चाहिये, उनकी सूरत शकल में कैसे भाव व्यक्त होने चाहिये, तथा सीन सीनरी कैसी होनी चाहिये, यह सब कुछ नहीं लिखते। अंगरेज़ी के प्रसिद्ध नाटक कार बर्नार्डशा के नाटकों में कभी कभी दो दो पेज में इन बातों का वर्णन रहता है। साधारण से साधारण बात, जैसे कमरे की सजावट कैसी है, उसमें किस ओर खिड़कियाँ हैं, किधर आग की अंगीठी है, किधर कुर्सी है, किधर मेज़ है, बैठने वाला क्या कर रहा है, उसका मुँह किधर है इत्यादि इत्यादि मामूली से मामूली बातों का वर्णन रहता है। पर यही बातें जिसे हम मामूली समझते हैं नाटक को सफल बनाने में बहुत बड़ा दख़ल रखती हैं। कथोपकथन में कौन पात्र किस भाव से, किस अन्दाज़ से अथवा किस प्रकार की भाव भङ्गी तथा स्वर से कौन बात कहता है इसका भी संक्षिप्त उल्लेख नाटककार को करते रहना चाहिये, जैसा कि पाश्चात्य नाटककार करते हैं। इससे अभिनेता को नाटककार के मर्म को समझना संभव हो जाता है।

कुछ लेखकों ने संस्कृत के नाटकों का हिन्दी में अनुवाद करना फिर शुरू किया। इनमें राय बहादुर लाला सीताराम बी० ए० का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इन्होंने संस्कृत के प्रायः सभी अच्छे अच्छे नाटकों का अनुवाद कर डाला। सन् १८८७ ई० में उनका 'नागानंद' का अनुवाद निकला। इसके बाद उन्होंने क्रमशः मृच्छकटिक, महावीर चरित, उत्तर-राम चरित, मालतीमाधव और मालविकाग्निमित्र का अनुवाद

किया। इन नाटकों के अतिरिक्त आपने काव्यों का भी अनुवाद किया है। उनमें आपका 'हिन्दी मेघदूत' बहुत प्रसिद्ध है। आपके नाटकों की भाषा सरल और सुगम होती है पर अनुवाद उतना अच्छा नहीं है, मूल के भाव पूर्णतया व्यक्त नहीं होते। संस्कृत के अतिरिक्त आपने शेक्सपियर के नाटकों के भी अनुवाद कर डाले हैं। हिन्दी में इतने नाटकों के अनुवाद शायद और किसी ने नहीं किये हैं।

इनके उपरान्त पं० सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के दो सर्व-श्रेष्ठ नाटकों—'उत्तरराम चरित' तथा 'मालतीमाधव' का बड़ा सुन्दर अनुवाद किया है। श्लोकों का अनुवाद अधिकतर आपने व्रज-भाषा के सवैयों में किया है और इन्हें भावाभिव्यक्ति में बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई है।

अब इस समय, वर्तमान काल में नाटकों की ओर फिर लोगों का ध्यान वेग से झुकने लगा है और दो एक प्रसिद्ध साहित्यसंस्थायें इसके लिये बड़ा उद्योग कर रही हैं कि हिन्दी में भी पाश्चात्य सर्व-श्रेष्ठ नाटककारों के नाटकों के टक्कर के नाटक लिखे जायँ। इसके लिये सबसे आवश्यक कार्य्य है जन-समुदाय की नाटकीय रुचि को परिमार्जित करना। इसके लिये ये संस्थायें योग्य अनुवादकों से विलायत के सर्व-श्रेष्ठ नाटकों के अनुवाद करा रही हैं। इस से यह होगा कि लोगों को कम से कम बहुत से सुन्दर प्रथम श्रेणी के नाटकों का ढंग देखने में आजायगा और फिर लोग इस प्रकार के नाटकों के लिखने की

भी चेष्टा करेंगे और इस तरह हिन्दी नाटक का आदर्श भी बहुत कुछ ऊँचा हो सकेगा। मुख्य बात जिसकी इस समय बड़ी आवश्यकता है यह है कि हिन्दी भाषा को इस योग्य बनाना कि छोटे छोटे सीधे सादे वाक्यों में गूढ़ से गूढ़ विचारों का समावेश किया जा सके। नाटक के लिये बोलचाल की महाबिरेदार एक ऐसी शैली की आवश्यकता है जिसकी व्यञ्जक शक्ति बहुत अधिक हो पर उसमें संस्कृत के कठिन शब्दों अथवा कहीं के भी ऐसे शब्दों का प्रयोग न हो जो व्यवहार में बहुत कम आते हैं। 'स्टाइल' बहुत सरल हो पर असर बहुत गहरा करने वाली हो। अंग्रेजी नाटककारों की चुस्त चलती हुई ज़बान में न जाने क्या जादू है कि जिस विचार को समीचीनतया प्रगट करने के लिये किसी हिन्दी लेखक को दो एक पेज रंगने पड़ें उसे वे एक छोटे से वाक्य में भर देते हैं। यह बात अभी हिन्दी भाषा में नहीं आई है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब रोज़ की साधारण बोलचाल की भाषा ही का साहित्य में सोलहो आने प्रयोग होगा, और उसी में सब प्रकार के भावों को चाहे वे कैसे भी गहन से गहन विषय के क्यों न हों, प्रगट करने की प्रथा चल पड़ेगी। यह अवश्य है कि आरम्भ में बहुत से प्रयोग 'असाहित्यिक' तथा 'अजीब' से मालूम होंगे पर वेही प्रयोग में आते आते कुछ ही दिन में मँज जायँगे और तब न खटकेंगे। कुछ रूढ़िवादी साहित्यिकों की यह 'खटक' हिन्दी भाषा के विकास में बड़ी बाधा दे रही है और इसी कारण से हमें ऐसे साहित्यिक महारथी आज कल बहुत 'खटक' रहे हैं। उनकी राय में जब तक

कोई बढ़िया सा आडम्बर युक्त संस्कृत का शब्द न आया तब तक भाषा साहित्यिक हो ही नहीं सकती।

हमारे बाबू जयशङ्कर प्रसाद के दो तीन नाटक 'जनमेजय का नाग यज्ञ', 'अजातशत्रु' और 'स्कंदगुप्त' आदि हिन्दी मौलिक नाटकों में सर्व श्रेष्ठ माने जा रहे हैं। ये सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। 'प्रसाद' जी के विषय में हम ऊपर थोड़ा सा ज़िक्र कर चुके हैं और ऐतिहासिक नाटककार के लिये जिन विषयों की योग्यता रखना अनिवार्य है तथा उसका उत्तरदायित्व साधारण सामाजिक अथवा नैतिक नाटककार से कितना अधिक गंभीर है इसकी भी कुछ सूचना हम ऊपर दे चुके हैं। यहाँ पर हमें केवल यही कहना है कि प्रसाद जी के नाटकों में दो एक बातें हमें बहुत खटकती हैं। एक तो पात्रों की संख्या इनमें इतनी अधिक हो गई है, और उनके आपस के सम्बन्ध ऐसे जटिल हैं कि उनको पढ़ते या देखते समय स्मरण रखना या समझ सकना असंभव है। इससे नाटक का प्लाट बहुत भद्दा हो जाता है और चरित्र चित्रण जो कि नाटक-नाविल की जान है, किसी भी पात्र का ठीक नहीं हो पाता और न दर्शक के हृदय पर किसी चित्र की छाप पड़ने पाती है। उसकी सारी चेतनाशक्ति इसी में लगी रह जाती है कि कौन पात्र क्या है, अमुक पात्र अमुक पात्र का बेटा है, कि भाई, कि चाचा, कि ताऊ।

प्लाट में कहीं कहीं ऐसे भी दृश्य आ जाते हैं जिनका नाटक की मूल कथा से कोई खास क्या दूर का भी सम्बन्ध नहीं

मालूम होता। और कथावस्तु के विकास और न उसके विन्यास में ही कोई विशेष सहायता मिलती है। इनके सिवाय भाषा और भाव भी प्रायः साधारण कोटि के शिक्षित वर्ग के लिये दुरूह होते हैं। रहस्यमय काव्य की पहेलियों के से वाक्य और उनके गूढ़ भाव रंगमंच के लिये एक प्रकार से व्यर्थ ही होते हैं। वह तो कवियों के चर्वण योग्य सामग्रियाँ हैं। यही कुछ थोड़ी सी बातें हैं जिनके कारण 'प्रसाद' जी के नाटक रंगमञ्च की दृष्टि से असफल रहे।

स्वर्गीय पं० बद्रीनाथ भट्ट के भी दो एक मौलिक नाटक, मुख्यतः 'दुर्गावती' अच्छी लोक प्रिय हुई। इनके नाटकों में उतनी साहित्यिकता न होते हुये भी वे रङ्गमच के लिये अधिक सुविधा-जनक सिद्ध हुये।

प्रहसन के लिये हिंदी संसार में श्रीयुत जी० पी० श्रीवास्तव बहुत प्रसिद्ध हैं। यद्यपि इनके प्रहसन अधिकतर कुरुचिपूर्ण या भद्दे, और इनका हास प्रायः बहुत निम्नस्तर का होता है तो भी किसी उच्चकोटि के प्रहसनकार के अभाव में आपकी अच्छी सुख्याति ही हुई। इनकी रचनाएँ अधिकतर मौलिक न होकर प्रसिद्ध फ्रांसीसी प्रहसनकार मोलियर के आधार पर लिखी गई हैं।

श्रीयुत राधेश्याम तथा 'बेताब' आदि कुछ नाट्यकारों ने व्यापारी कम्पनियों के खेलने योग्य बहुत से बाजारू नाटक लिखे हैं पर उनकी चर्चा यहाँ व्यर्थ है।

सबसे बड़ी बाधा हिंदी नाटक के उत्थान में है एक राष्ट्रीय रंगमंच का पूर्ण अभाव। बंगला, मराठी और गुजराती आदि के नाटकों की उन्नति का मुख्य कारण यही है कि उनके यहाँ अपने रंगमंच का अभाव नहीं है। न जाने यह कमी हिंदी संसार से कब दूर होगी। यहाँ के हिन्दीहितैषी श्रीमानों के लिये यह कम लज्जा की बात नहीं है।

अभी इधर थोड़े दिनों से श्रीयुत् लक्ष्मी नारायण मिश्र नाम के एक सज्जन नाटक लेखनकला में अच्छी योग्यता का परिचय दे रहे हैं। आपका आधुनिक नाटक का आदर्श समयोचित और सब तरह से ठीक है और आपके प्रयत्न उचित दिशा में हैं। श्रेष्ठ कोटि के पश्चात्य नाटक का ही आदर्श आप ने अपने सामने रक्खा है और सफलता भी आपको मिल रही है। आपके 'राजयोग' और 'सिंदूर की डिबिया' का अच्छा स्वागत हुआ है। पर वही पुराना रोना, हिंदी का रंचमञ्च न होने के कारण आपका प्रयास भी व्यर्थ सिद्ध हो रहा है।

रंगमंच के अभाव को ही देखकर शायद कुछ सज्जन अभी हाल में एकांकी नाटक लिखने लगे हैं। प्रायः दस से अधिक अभी न लिखे गये होंगे पर यह हमारा दृढ़ विश्वास है कि इनमें एक को भी किसी रङ्गमंच पर अभिनीत होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। कदाचित इसे व्यर्थ का प्रयास समझ कर एकाएक इसका लिखना बन्द भी हो गया।

—

उपन्यास

हरिश्चन्द्र लेखक-मंडल के समय से ही पिछले लेखकों में उपन्यास लिखने की और विदेशी भाषाओं से उपन्यासों के अनुवाद करने की प्रवृत्ति हो चली थी। पहले तो बहुत से अनुवाद धड़ाधड़ निकले और अब भी निकलते जा रहे हैं; पर सबसे पहले मौलिक उपन्यासकार बाबू देवकीनन्दन खत्री हुये। इनकी प्रतिभा बड़ी विचित्र थी। इनके सबसे प्रसिद्ध उपन्यास "चंद्रकांता", "चंद्रकांता संतति" और "भूतनाथ" हैं। इनमें से 'संतति' २४ भागों में समाप्त हुई है और 'भूतनाथ' को वह १२ भाग लिखकर अधूरा छोड़ गये। चंद्रकांता चार भागों में समाप्त है। इनके अतिरिक्त उन्होंने और भी बहुत से उपन्यास लिखे। यह सभी काल्पनिक होते थे और "तिलस्मी" तथा "ऐयारी" की विचित्र घटनाओं से भरे रहते थे। इनकी भाषा बहुत ही सरल और चलती हुई होती थी, इसी कारण हिंदी के पढ़नेवाले जितने इनकी वजह से बने, उतने शायद अन्य किसी लेखक से नहीं। इनकी पुस्तकों की रोचकता के बारे में प्रसिद्ध है कि बहुत से अन्य भाषा-भाषी लोगों ने भी केवल 'चंद्रकांता' पढ़ने ही के लिये हिंदी सीखी। बहुत से उपन्यास प्रेमी नवयुवक इनकी पुस्तकें पढ़कर इन्हीं के ढंग के उपन्यास लिखने का स्वप्न देखने लगे और बहुत से लोगों ने इनकी देखा-देखी इस ढंग के उपन्यास

लिख भी डाले। यहाँ तक कि एक साहब ने 'चंद्रकांता' के ढंग की 'सूर्यकांता' गढ़ ही डाली। तात्पर्य यह कि बाबू देवकी-नंदन की उपन्यास लेखन-प्रणाली का कुछ समय तक ख़ूब आदर हुआ; पर जनता का ध्यान धीरे धीरे सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों की ओर झुका। 'खत्री' जी के उपन्यासों में दिलचस्पी तो बहुत होती थी; पर यह सिर्फ़ घटना वैचित्र्य और सनसनीदार बेढब वारदातों की वजह से। इनके उपन्यासों में चरित्र-चित्रण और मनोविज्ञान का कुछ ध्यान नहीं रखा जाता और न रस या भाव का ही कहीं से सञ्चार होता है। जीवन की समस्याओं पर खत्री जी का कुछ कहना नहीं था। इन्हीं कारणों से इनके उपन्यास स्थायी साहित्य में स्थान पाने योग्य नहीं समझे जाते। इनके ढङ्ग के उपन्यास लिखनेवाले एक बाबू हरिकृष्ण जौहर हो गये हैं।

खत्री जी के ही सम-सामयिक दूसरे मौलिक उपन्यासकार पं० किशोरी लाल गोस्वामी हैं। इनका ढङ्ग दूसरा है। ये अधिकतर ऐतिहासिक उपन्यास जैसे "शाहीमहलसरा" अथवा "लखनऊ की क़ब्र" इत्यादि अधिक लिखते थे। ये जिस समय की बात कहते उस समय के समाज का सजीव चित्र सामने रखने की भरसक चेष्टा करते थे। रस तथा भावादि का भी विवेचन ये मज़े में कर देते थे और थोड़ा-बहुत चरित्र-चित्रण का भी ख़्याल रखते थे। इनके कुछ उपन्यास किसी प्रकार साहित्य-कोटि में आ सकते हैं। ये संस्कृत और उर्दू दोनों के अच्छे ज्ञाता और पुराने ढर्रे के कवि भी थे। रसिकता इनके स्वभाव ही में कूट कूटकर भरी थी। इनके

उपन्यासों में कहीं संस्कृत श्लोकों के टुकड़े या फारसी के मुहाविरे आदि भी देखने में आ जाते हैं। कोई-कोई कहते हैं कि इन्हें हिंदी का "रेनाल्ड" कहना चाहिये। इसके कई कारण हैं। इन्होंने अपने अधिकतर उपन्यासों में मुग़ल और पठान बादशाहों और लखनऊ के जगत् प्रसिद्ध विलास-प्रिय नवाबों के 'रंगमहल' के 'रहस्यों' का उद्घाटन किया है। इसी से इनमें निम्न कोटि की दूषित बासनाओं के नग्नप्राय चित्र बहुत अधिक देखने में आते हैं, जिनसे नवयुवक और अपरिपक्व मस्तिष्क वाले पाठकों पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है। यह शिकायत इनके 'चपला' नामक उपन्यास के बारे में तो बहुत ही अधिक है। भाषा गोस्वामी जी कई प्रकार की लिखते हैं। कभी-कभी तो बड़े-बड़े समासों से युक्त संस्कृत के कठिन शब्दों से गठी हुई भाषा लिखते हैं और कभी-कभी 'उर्दू-ए-मुअल्ला' की छटा दिखाने की चेष्टा करते देखे जाते हैं। उर्दू लिखने का शौक़ गोस्वामी जी को पिछले दिनों में हुआ, जब ये अपने अधिकांश उपन्यास लिख चुके थे। इसी ज़बान में इन्होंने राजा शिवप्रसाद की जीवनी लिखी थी। इन्हें अपने पांडित्य प्रदर्शन का कुछ रोग सा था। ये संसार को दिखाना चाहते थे कि दोनों प्रकार की भाषाओं पर हमारा समान रूप से अधिकार है। कुशल यह हुई कि यह 'व्यापकता' गोस्वामी जी ने केवल भाषा के संबंध में ही दिखानी चाही थी। विषय एक ही था—उपन्यास। यदि और विषयों में भी टाँग अड़ा देते तो शायद ही उपन्यास लिखने में इनको इतनी सफलता प्राप्त होती। इनके प्रसिद्ध उपन्यास ये हैं—

रज़िया बेगम ।

तरुण तपस्विनी ।

चपला ।

तारा ।

हीराबाई ।

इंदुमती ।

लीलावती ।

राजकुमारी ।

लवङ्गलता ।

हृदय हारिणी ।

लखनऊ की क़ब्र इत्यादि ।

यही दोनों महाशय—पं० किशोरी लाल गोस्वामी और बाबू देवकी नंदन खत्री—हिंदी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं। मौलिक उपन्यास का श्री गणेश तो बाबू श्री निवास दास की लेखनी से हुआ था। सबसे पहला मौलिक हिंदी उपन्यास इनका लिखा हुआ "परीक्षा गुरु" है; पर ये यही एक उपन्यास लिख सके।

बाबू देवकी नंदन के कुछ पहले ही से लेकर और आज तक हिंदी उपन्यास साहित्य में अनुवादों की बेहद भर-मार हो रही है। अच्छे मौलिक उपन्यास लेखक अब भी दो ही एक देखने में आ रहे हैं। अच्छे-अच्छे बंगला या अंगरेज़ी या मराठी के उपन्यासों के अनुवाद या छायानुवाद की धुन अब भी अधिकांश

लेखकों के मन में समाई हुई है। भारतेंदु जी के सामने ही गदाधरसिंह जी ने बंगला के कई अच्छे उपन्यासों का अनुवाद किया। इनके कुछ समय के बाद पर १९०० ई० के पहले ही बाबू रामकृष्ण वर्मा और बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री अनुवादकों में बहुत प्रसिद्ध हुये। इन दोनों महाशयों ने विशेषतः बंगलासे अनुवाद किये। इनके प्रसिद्ध अनुवाद ये हैं।

गदाधरसिंह

रामकृष्ण वर्मा

कार्तिकप्रसाद खत्री

ठग वृत्तान्त माला पुलिस वृत्तान्त माला अमला वृत्तान्त माला चित्तौर-चातकी अकबर	बाबू रामकृष्ण वर्मा।
इला प्रमीला जया मधुमालिनी	बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री।

उपर्युक्त तीनों महाशय भाषा के सम्बन्ध में भारतेन्दु हरिश्चंद्र को ही आदर्श मानते थे। अरबी, फ़ारसी के शब्दों को यथा सम्भव ये कम काम में लाते थे और शुद्ध हिन्दी तथा सरल और प्रचलित संस्कृत के शब्दों से ही काम चलाते थे।

इन लोगों के अतिरिक्त एक और प्रसिद्ध अनुवादक बाबू

गोपाल राम गहमरी

गोपाल राम गहमरी हैं। इनके अधिकतर उपन्यासों के अनुवाद १९०० ई० के बाद के हैं। इन्होंने बंगला के सामाजिक तथा कौटुम्बिक उपन्यासों के अनुवाद में हाथ लगाया। इनके प्रसिद्ध अनुवाद ये हैं।

देवरानी जेठानी तीन पतोहू दो बहिन बड़ा भाई नये बाबू चतुर चंचला भानमती सास पतोहू	गोपाल राम गहमरी

गहमरी जी के लिखने का ढंग पहले के अनुवादकों से अच्छा हुआ। इसका कारण यह था कि इन्होंने भाषा में 'सजीवता' लाने के लिये चलते मुहाविरे, चाहे वे उर्दू के हों या उनकी मातृभाषा पूर्वी हिन्दी के, बहुत बरते हैं। इनका कहने का ढङ्ग सीधा साधा न हो कर कुछ वक्रता युक्त है, इससे इनकी भाषा में लोच आ गई है, जो पहले के अनुवादकों में नहीं थी।

"दीपनिर्वाण" नामक एक श्रीमती स्वर्णकुमारी देवी के बंगला उपन्यास का अनुवाद मुंशी उदित नारायण लाल वकील के अनुवादों में बहुत प्रसिद्ध है।

एक अनुवाद पण्डित अयोध्यासिंह जी ने उर्दू से किया जिसका नाम "वेनिस का बांका" है।

सन् १९०० ई० तक के तथा उसके पहले के उल्लेखनीय अनुवादकों का संक्षिप्त परिचय ऊपर हो चुका, अब उसी समय के आस-पास के दो एक मौलिक उपन्यास लेखकों की चर्चा और कर देनी है।

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय जी के दो मौलिक उपन्यास।

ठेठ हिन्दी का ठाट और

अधखिला फूल।

के विषय में हम ऊपर काफ़ी समालोचना कर चुके हैं, यहाँ केवल यह कहना है कि उनके अनुवाद ग्रन्थ 'वेनिस का बाँका' की भाषा तथा उनके मौलिक उपन्यासों की भाषा में आकाश पाताल का अन्तर है। 'वेनिस के बांका' की भाषा संस्कृत प्राय है।

सन् [illegible] ई० के बाद उपन्यासों की रचना में कुछ नवीनता दिखाई प[illegible] नुवादों का सिलसिला तो अब भी चला जा रहा है पर कु[illegible] व श्रेणी के मौलिक उपन्यास तथा कहानी लिखने वालों क[illegible] र्भाव हुआ और जनता की उपन्यास-विषयक-रुचि भी [illegible] कु परिमार्जित हो चली है। ऐयारी और तिलस्मी उपन्या[illegible] ी अब नहीं मिलते पर उनके बदले में जासूसी उपन्य[illegible] ीन अब भी बहुत हैं और इनके शौक़ को पूरा करने[illegible] क मण्डलियाँ अब भी अपना काम धड़ल्ले से किये जा र[illegible] लकत्ता में बाबू राम लाल वर्मा ने सैकड़ों जासूसी

उपन्यासों के अनुवाद बङ्गला तथा अङ्गरेजी से करा डाले। इन्होंने "दारागादफ़्तर" नाम का एक जासूसी मासिक पत्र (बंगला 'दारोग़ा दफ़्तर' का अनुवाद) भी निकालना शुरू किया था। पर, ये सब साहित्य कोटि में नहीं आते अतः इनकी चर्चा यहाँ व्यर्थ है।

अब इस समय हिन्दी में तीन सज्जन मौलिक तथा उच्च श्रेणी के उपन्यास और गल्प लिख रहे हैं—

श्री प्रेमचन्द्र।

पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र"।

जयशंकर "प्रसाद"।

इस त्रिमूर्ति में प्रेमचन्द्र जी का नाम बहुत प्रसिद्ध हो रहा है। यहीं एक हिन्दी के पहले औपन्यासिक हैं जिनकी कृतियों के अनुवाद अन्य भाषाओं में भी हो रहे हैं। इनके बड़े उपन्यासों में सबसे प्रसिद्ध हैं :—

रंगभूमि।

सेवासदन।

प्रेमाश्रम।

कायाकल्प, ग़बन तथा कर्मभूमि।

उग्रजी के सर्व प्रसिद्ध उपन्यास हैं :—

बुधुआ की बेटी,

दिल्ली का दलाल।

तथा चन्द हसीनों के खतूत।

'प्रसाद' जी का "आकाश दीप" कला की दृष्टि से बहुत उच्च श्रेणी की कृति है। जिसकी सच्ची समालोचना जुलाई

१९३० ई० के विशालभारत में निकली है ? इनके 'कंकाल' नामक एक बड़े उपन्यास के बारे में लोगों की विभिन्न रायें हैं और चूँकि अब भी इसकी समालोचना आए दिन हो ही जाती है, हम उसके सम्बन्ध में कुछ कहना ठीक नहीं समझते। इसका समय आगे आवेगा।

इनके अतिरिक्त मौलिक उपन्यास लिखने का व्यसन इस समय बहुत से नवयुवकों और महिलाओं को भी हो रहा है। अनुवाद की भरमार अब वैसी नहीं रही। मौलिक उपन्यासों में भी अब ऐतिहासिक उपन्यासों के लिखने की ओर प्रवृत्ति बहुत कम हो गई है। हिन्दू समाज की बुराइयों को लेकर ही अधिकतर उपन्यासकार व्यस्त हो रहे हैं, (समाज की बुराई ही उनका भला कर रही है)। कुछ लोग राजनीति और समाज दोनों के संमिश्रण से प्लाट तैयार करते हैं। ग़रीबों पर, किसानों पर अधिकारियों के अत्याचार, हिन्दू ललनाओं का हिन्दू समाज में निरादर, विधवा विवाह न होने तथा बाल या वृद्ध विवाह से होनेवाली बुराइयों तथा 'अछूत' समस्या को लेकर आजकल बहुत से उपन्यास लिखे जा रहे हैं। पर इनमें से अधिकांश उपन्यास साहित्य कोटि में आने योग्य नहीं हो रहे हैं। जो साहित्य किसी विशेष परिस्थिति को देखकर जनता में एक प्रकार की जागृति उत्पन्न करने के लिये लिखे जाते हैं तथा जिनका मुख्य उद्देश्य किसी प्रकार की सामाजिक अथवा नैतिक कुरीति का निवारण ही होता है उनका मूल्य उक्त कुरीति के दूर होने पर कुछ नहीं रह जाता। पाश्चात्य उपन्यासकारों की भाँति हिन्दी के उपन्यास कार भी आज कल

मनोविज्ञान की ओर बहुत ध्यान दे रहे हैं और मानव हृदय की दुर्बलताओं से होनेवाले अनर्थों के विश्लेषण में ही सारी बुद्धि खर्च कर रहे हैं पर ऐसे लेखक उपन्यास का यथार्थ उद्देश्य ही भूल जाते हैं। इनके अतिरिक्त आज दिन कुछ ऐसे भी लेखक देखे जा रहे हैं जो इन्हीं मानव हृदय की दुर्बलताओं से अनुचित लाभ उठाकर अपना उदर पोषण कर रहे हैं। ये लोग हिन्दूसमाज की पोल खोलने के बहाने ऐसी ऐसी कुरुचि पूर्ण कलुषित कथायें लिख रहे हैं जिन्हें सुनकर किसी भी सहृदय मनुष्य को एक बार लज्जा आये बिना नहीं रह सकती। इस प्रकार का साहित्य कुछ दिन तक "घासलेटी" साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ और कुछ उत्तरदायित्व पूर्ण साहित्यिकों ने इस प्रकार के साहित्य के विरुद्ध ज़ोरदार आन्दोलन करना भी आरम्भ कर दिया, पर कहीं समय की गति आन्दोलनों से रुकी है ? इन सब बातों के होते हुए भी हमें हिन्दी के उपन्यास साहित्य का भविष्य उतना अन्धकार पूर्ण नहीं प्रतीत होता। हिन्दी में इस समय उत्तरदायित्व पूर्ण लेखकों की संख्या में वृद्धि होती ही जा रही है और आशा की जाती है कि हिन्दी साहित्य भी निकट भविष्य में संसार की अन्य समुन्नत भाषाओं के साहित्य के साथ साथ अग्रसर होने में समर्थ हो सकेगा।

कहानी (SHORT STORY)

भारतीय साहित्य में 'कहानी' का अस्तित्व हम बहुत प्राचीन काल से देखते आ रहे हैं, यहाँ तक कि खोजने से वेदों में भी

कुछ कहानियाँ मिल जाती हैं; और फिर वेदों के बाद उपनिषदों में हमें कहानियों की खासी संख्या दिखाई पड़ती है। आगे चल-कर नाटकों और महाकाव्यों के उन्नति काल में संस्कृत साहित्य में कहानी का जोर कुछ कम हो गया था पर बौद्ध साहित्यिकों ने कहानी का बड़ा आदर किया। पाली साहित्य कहानियों की भर-मार से भरा पड़ा है। बौद्धों के 'जातक' को हम एक प्रकार से कहानी ही कह सकते हैं, अन्तर इतना ही है कि ये सब धार्मिक उद्देश्य से लिखे हुए होते थे। पाली के अनन्तर प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में भी कहानी की कमी नहीं है। आधुनिक हिन्दी की कहानी के विकास का आरम्भ सैयद इन्शा अल्ला खाँ के समय से होता है। सन् १८०३ ई० के लगभग खाँ साहब ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी जिसको हम खड़ी बोली की पहली कहानी कह सकते हैं। यह हिन्दी साहित्य की पहली मौलिक कहानी है। इनके समकालीन पं० सदल मिश्र ने नासिके-तोपाख्यान (पौराणिक) तथा लल्लू लाल ने 'बैताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', तथा 'शुक बहत्तरी' लिखीं पर ये सब अनुवाद हैं, मौलिक नहीं। कला की दृष्टि से इन कहानियों का कुछ ऐसा मूल्य नहीं है। ये कहानियाँ केवल ऐसी हैं जिनसे प्रायः वृद्ध मातायें छोटे बच्चों का दिल बहलाया करती हैं।

खड़ी बोली के इन तीनों आदिम लेखकों के उपरान्त लगभग पचास वर्ष तक किसी उल्लेखनीय लेखक का पता नहीं चलता। इस अवसर में जैसा कि हम पहले कह चुके हैं हिन्दी की सेवा यदि किसी ने की तो मिशनरियों ने। पर इन लोगों ने अपने मत

के प्रचार की इच्छा से ही अपने धर्मग्रन्थों के हिन्दी में अनुवाद तथा कुछ उपयोगी पाठ्यपुस्तकें आदि छपवाई। साहित्य सेवा इनका उद्देश्य कदापि नहीं था, अतएव उपन्यास या नाटक लिखवाना इन लोगों ने कदाचित् स्वप्न में भी नहीं सोचा था। इस समय के उपरान्त सबसे पहले हम राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' को साहित्य सेवा के लिये अग्रसर होते देखते हैं। इन्होंने भिन्न २ विषयों पर कई पुस्तकें लिखीं और 'राजा भोज का सपना' नाम की एक कहानी भी लिखी। इनके अनन्तर बाबू हरिश्चन्द्र तथा उनके समकालीन लेखक मण्डल ने बड़ी तन्मयता से हिन्दी साहित्य की सेवा की। इस समय के प्रायः सभी प्रसिद्ध लेखकों ने कोई न कोई पत्र निकाला और उसमें विविध प्रकार के लेख तथा कवितायें निकलती थीं पर पत्रों में कहानी लिखने की अभी तक किसी को नहीं सूझी थी। इसी समय के आस पास एक बाबू काशीनाथ खत्री ने 'लेंब्स टेल्स' (Tales from Shakespeare by Charles Lambs) का अनुवाद किया था। बाबू काशी नाथ जी के परिश्रम से इतना अवश्य हुआ कि हिन्दी लेखकों का ध्यान छोटी छोटी कहानियाँ लिखने की ओर आकर्षित हुआ और पत्रों में सबसे पहले 'सरस्वती' ने कहानी निकालना आरम्भ किया। सबसे पहली कहानी जो 'सरस्वती' में निकली वह पंडित किशोरी लाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' थी। गोस्वामी जी सिद्धहस्त मौलिक उपन्यासकार थे और भाषा पर भी इनका अच्छा अधिकार था। इन्होंने ही पहले पहल मासिक पत्रों में कहानी देने की प्रथा डाली और इनकी देखा देखी कुछ और

लेखकों को भी सरस्वती में अपनी कहानी भेजने का शौक़ पैदा हुआ। कुछ लोग अंगरेज़ी या बँगला से अच्छी अच्छी कहानियों के अनुवाद या छायाअनुवाद करके भेजने लगे। ऐसे लोगों में एक बाबू गिरिजा कुमार घोष थे जो अपनी अंग्रेज़ी से अनूदित कहानियाँ लाला 'पार्वती नन्दन' के नाम से प्रकाशित कराते थे। लोग बड़े चाव से इन कहानियों को पढ़ते थे। पर अभी तक उच्च कोटि की मौलिक कहानी लेखकों का नितान्त अभाव था। सरस्वती के तत्कालीन सम्पादक पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी कई संस्कृत की आख्यायिकाओं का हिंदी में रूपान्तर किया।

'सरस्वती' की माँग दिन दिन बढ़ती जा रही थी, हिन्दी प्रेमियों की संख्या भी दिन दूनी रात चौगुनी के हिसाब से बढ़ रही थी। यह अवस्था देखकर मासिक पत्रिकायें भी कई निकलने लगीं। पहले इनके सामने बँगला के मासिक पत्रों का ही आदर्श था। यथार्थ में बात यह है कि आधुनिक कहानी और मासिक पत्रिकाओं का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि दोनों का भविष्य, जीवन-मरण एक सूत्र से बँधा हुआ दिखाई देता है। दोनों ही की उत्पत्ति प्रायः एक साथ हुई या यों कहिये एक के लिये ही दूसरी ने जन्म लिया तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं। सन् १९०० ई० में सरस्वती का जन्म हुआ और सन् १९०२ में गोस्वामीजी की पहली कहानी इसमें छपी। यह अवश्य नहीं कहा जा सकता कि कहानी ही के लिये मासिक पत्र का जन्म हुआ पर यह सभी जानते हैं कि संसार के प्रायः सभी समुन्नत भाषाओं के साहित्य में मासिक पत्रों में ही विशेषतः कहानियाँ देखने में आती हैं।

जनता उन्हीं पत्रिकाओं को अपनाती है जिनमें अच्छी उच्च श्रेणी की कहानियाँ ख़ूब निकती हों। हिन्दी और बँगला के पत्रों का भी यही हाल है। कुछ दिन पहले 'बङ्ग महिला' नाम की एक पत्रिका बहुत प्रसिद्ध हो रही थी। कहानी के कारण हिंदी संसार भी उसकी उच्च श्रेणी की कहानियों से परिचित हुआ और उन कहानियों के अनुवाद और छायानुवाद हिंदी में धड़ाधड़ छपने लगे। यही हिंदी कहानी का आरम्भ काल था। यह अवश्य है कि हिंदी कहानी का विकास स्वतन्त्र नहीं हुआ है वह पहले बङ्गला का सहारा लेकर खड़ी हुई जो कि स्वयं पाश्चात्य साहित्य (कम से कम गल्प के सम्बन्ध में) के आदर्श पर स्थित थी। पर एक बार हिन्दी साहित्यिकों के सामने आधुनिक उच्च कोटि की कहानी के आदर्श के आने भर की देर थी। १९१० ई० के बाद से हिंदी में भी उच्च श्रेणी की मौलिक कहानियाँ देखने में आने लगीं। हमारे इस कथन का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि अब हिन्दी में बङ्गला या अंगरेज़ी आदि की सहायता ली ही नहीं जाती, तात्पर्य यह है कि अब बहुत से हिन्दी के लेखक इस प्रकार की उच्च कोटि की मौलिक कहानियाँ लिखने लगे हैं। कला की दृष्टि से फरांसीसी और अंगरेज़ी भाषा की कहानियाँ अपने शायद उच्चतम शिखर पर पहुँच गई हैं और हिंदी कहानी को अभी इस अवस्था तक पहुँचने में काफ़ी देर है पर कुछ ऐसे भी उच्च कोटि के कलाकार हिंदी में इस समय वर्तमान हैं जिनकी कहानी को आप भारतवर्ष के अन्य किसी भी साहित्य के लेखक की कहानी के मुकाबिले में रख सकते हैं।

इससे इनके गल्पों में साहित्यिक सुगंध सी आ जाती है और वस्तुविन्यास में कोई बाधा भी नहीं होने पाती। यही प्रसाद जी का कला-कौशल है।

दूसरे हिंदी के उच्चतम कोटि के गल्प लेखक श्री प्रेमचन्द्रजी हैं। ये चरित्रचित्रण में अपना सानी नहीं रखते, कमसे कम हिंदी लेखकों में। इनमें मुख्य बात यह है कि ये महाशय कहानी या उपन्यास जो कुछ भी लिखते हैं वह सोद्देश रूप से। इनकी हर एक कहानी में जन समाज के लिये कोई न कोई उपदेशात्मक संदेश रहता है। सामाजिक अथवा नैतिक कुरीतियों का निवारण आपका लक्ष्य रहता है। पर आपका कथन कदापि 'उग्र' नहीं होता, बल्कि जो कुछ आप कहते हैं इस प्रकार की मीठी व्यङ्ग पूर्ण भाषा में कहते हैं कि पाठक को कटुता का अनुभव कदापि नहीं होता, बस इसी में प्रेमचन्द्र जी का कौशल है। उनके अधिकार में एक बड़ी ही सरस तथा चुस्त भाषा शैली आ गई है, इसका एक कारण शायद यह भी है कि आप उर्दू के बड़े अच्छे लेखक हैं। एक और मुख्य बात इनकी लेखन-कला के विषय में यह है कि ये मनुष्य जीवन की साधारण से साधारण घटना को लेकर उसका निष्कर्ष निकालते समय मनुष्य हृदय के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों को मनोविज्ञान के नियमों के ढंग पर ऐसा सजा कर धर देते हैं कि देखते ही बनता है। कुछ लोगों का कथन है प्रेमचन्द्र जी की कहानियाँ कला की दृष्टि से इनके बड़े उपन्यासों से भी अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। यह कथन ठीक भी हो सकता है क्योंकि कहानी लेखक का कार्य बहुत कला कौशल पूर्ण होना चाहिये।

उसे गागर में सागर भर देना होता है। इने गिने कुछ पृष्ठों में ही चरित्र चित्रण, कथोपकथन, भाषा सौष्ठव, वस्तु विन्यास आदि उपन्यास के सभी अङ्गों की झलक दिखा देना होता है और प्रेमचन्द्र ऐसा कर सकते हैं। इनकी कहानी में चाहे वह दो या चार ही पृष्ठ की हो, उपन्यास के सभी मुख्य अङ्गों का बड़ा ही सामञ्जस्य पूर्ण विकास देखने में आ जाता है।

प्रेमचन्द्र जी अब तक दो सौ से ऊपर कहानियाँ लिख चुके होंगे और इनकी कहानियों के संग्रह 'प्रेम द्वादशी' 'प्रेम पूर्णिमा', 'प्रेम पचीसी', 'प्रेम प्रसून' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं। प्राय: सभी मासिक पत्र इनके गल्पों को छापने के लिये उत्सुक रहा करते हैं। ये अगर बायें हाथ से भी कोई किस्सा लिख दें तो कोई भी सम्पादक आँख मूँदकर छाप देगा। इन्हीं कारणों से प्रेमचंद्रजी के इधर के कुछ गल्पों के पढ़ने से मालूम हो जाता है कि सावधानी पूर्वक नहीं लिखे गये हैं। इनकी जो कहानियाँ हमने देखी हैं उनमें सबसे अच्छी ये जँचीं—

शतरंज के खिलाड़ी
आत्माराम
दुर्गा का मन्दिर
बड़े घर की बेटी
मुक्ति मार्ग
अग्नि समाधि
भूत
गृहदाह

सत्याग्रह

स्तीफ़ा (इस्तीफ़ा)

प्रेमचन्द्र जी की कहानियों के सर्वोत्तम संग्रह 'प्रेम द्वादशी' तथा 'प्रेम प्रसून' हैं।

हिन्दी कहानी के तीसरे विख्यात लेखक पाण्डेय बेचन शर्म्मा 'उग्र' हैं। इनका रचना काल सन् १९२२ ई० से आरम्भ होता है, और इसी बीच में ये सौ से ऊपर कहानियाँ लिख चुके हैं और बराबर लिखते जा रहे थे, पर इधर कुछ वर्षों से न जाने क्यों इनकी लेखनी ने एक प्रकार से विश्राम ले लिया। इसका हिंदी संसार को हार्दिक खेद है। इनकी शैली सबसे विचित्र है। अभी तक इस तरह की हिन्दी किसी ने नहीं लिखी। कहीं से इनका एक वाक्य पढ़ते ही पता लग जायगा कि यह 'उग्र' जी की रचना है। 'उग्र' जी एक प्रतिभाशाली तथा मननशील लेखक हैं। इनके लिखे हुए उपन्यास, गल्प, नाटक, कविता, सभी अपने ढंग के निराले होते हैं। इनकी कोई भी कृति एक बार हाथ में ले लेने पर बिना आद्योपान्त पढ़े छोड़ना कठिन हो जायगा। इनकी कहानियों के विशेष आदर का प्रधान कारण यह है कि ये सामयिक राजनैतिक तथा सामाजिक विषयों से ही प्लाट बनाते हैं। इनके गल्प 'यथा नाम तथा गुण' के अनुसार यथार्थ में 'उग्र', हृदय में गड़ जाने वाले होते हैं। इनकी कुछ राजनैतिक कहाँनियाँ इतनी 'उग्र' हुईं कि सरकार को उन्हें जप्त कर देना पड़ा। 'चिनगारियाँ' नामका इनका संग्रह जप्त हो गया है। स्थायी साहित्य में स्थान पाने योग्य चाहे इनके गल्प न हों, पर एक समय तो सर्वसाधारण में इनके

गल्पों का खासा आदर हो गया। कलकत्ते के प्रसिद्ध पत्र 'मतवाला' से इनका बहुत संबंध रहता था और इनके अधिकतर उपन्यास पहले इसी में निकलते थे। प्रेमचन्द्र की तरह उपन्यास के सभी अङ्ग—चरित्र चित्रण तथा कथोपकथन आदि समान रूप से तो इनके गल्पों में नहीं बिकसित होने पाते; पर इनके जिस गल्प में जिस अङ्ग का विकाश होता है वह बड़ा ही अनूठा और विचित्र होता है। कहीं चरित्रचित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है तो किसी में कथोपकथन बड़ा ही रोचक होता है, कहीं घटनावैचित्र्य अनुपम होता है तो कहीं वस्तुविन्यास बड़ा ही कौशल-पूर्ण होता है। इनकी कला में विशेषता यह है कि पूर्णरूप से यथार्थवाद (realism) की सीमा के अन्दर रहते हुए आदर्शवाद (idealism) का निर्वाह भी कर देते हैं। प्रेमचन्द्र के अनुसार सच्चे कलाकार का सोलहो आने यथार्थवादी (realist) न बन जाना चाहिये। बड़े-बड़े साहित्यमर्मज्ञों की भी यही राय है; पर यथार्थ में बात यह है कि उपन्यास या कहानी में उपदेश की प्रथा बड़ी अस्वाभाविक प्रतीत होती है और पाठकों की सहानुभूति पात्रों से जाती रहती है। कला का उत्कर्ष इसी में है कि चित्रण और वस्तु विन्यास तथा घटनाक्रम पूर्ण रूप से स्वाभाविक होते हुये भी यथासंभव आदर्श का पालन किया जाय और यह बात 'उग्र' जी प्रायः सफलता पूर्वक कर लेते हैं। इधर 'प्रसाद' जी की कला में मुख्य बात यह है कि सब बातें देकर, जहाँ अंतिम तथा ऐसी घटना का उल्लेख करना होता है, जिसके जानने के लिये पाठक प्रारंभ

से ही उत्सुक रहता है, बस वहीं वस्तुविन्यास समाप्त कर देते हैं और 'अन्त में क्या हुआ' इसका निर्णय पाठक की कल्पना पर छोड़ देते हैं। बहुत से पाश्चात्य उच्च कोटि के कहानी लेखक भी ऐसा ही करते हैं; परन्तु 'उग्र' जी ऐसा नहीं करते। उनकी कोई भी गल्प पढ़ लेने के बाद पाठक को यह सोचने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि 'आगे क्या हुआ'। 'उग्र' जी सब कुछ कह देते हैं और इस ढङ्ग से कि पढ़ चुकने पर बहुत दिनों तक उनकी कहानी का ध्यान बना रहता है, हृदय पर घटनाक्रम की एक लकीर सी खिंच जाती है और अन्त में उसका एक नशा सा छा जाता है।

उग्र जी की कुछ कहानियाँ केवल विचार पूर्ण-लेख की भाँति होती हैं। उनमें किसी घटना विशेष का वर्णन नहीं होता न कोई प्लाट ही होता है तो भी उनमें एक अभूत-पूर्व आनन्द रहता है। इस ढङ्ग की एक कहानी 'बुढ़ापा' को याद अभी लोग भूले न होंगे। इसके ढङ्ग की कोई चीज़ हिंदी में शायद अभी नहीं आई। कुछ लोग कहेंगे कि 'बुढ़ापा' कहानी है ही नहीं वरन् वृद्धावस्था पर एक मार्मिक छोटा सा लेख है; पर जो कुछ भी हो 'बुढ़ापा' में कला का एक पूरा रूप विकसित है। उनके सर्वोत्तम गल्पों के दो एक संग्रह भी निकल चुके हैं। कुछ लोग इनकी सामाजिक कहानियों के बारे में यह दोष लगाते हैं कि इनमें कुरुचिपूर्ण वीभत्स दृश्य तथा सामाजिक कुरीतियों के नग्नचित्र इतने अधिक हैं कि इनसे लाभ की अपेक्षा हानि की

आशङ्का अधिक है; पर इन विषयों के विचार करने का यहाँ स्थान नहीं है।

ऊपर कहे हुये तीन कहानी लेखकों के अतिरिक्त कुछ और विशेष रूप से उल्लेखनीय कहानी लेखकों के नाम नीचे दिये जाते हैं :—

पं० विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक'।

पं० विश्वम्भर नाथ जिज्जा।

श्री जैनेन्द्र कुमार।

श्री चतुरसेन शास्त्री।

श्री भगवती प्रसाद बाजपेयी।

पं० बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन'।

पं० गोविंद वल्लभ पन्त।

श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश'।

श्री सुदर्शन।

राजा श्री राधिका रमण सिंह।

प० चंद्रधर शर्मा गुलेरी।

पं० ज्वालादत्त शर्म्मा।

श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी।

श्री रघुपति सहाय।

श्री शिवपूजन सहाय।

ठा० बीरेश्वरसिंह

श्री० सत्यजीवन वर्मा

श्री० भगवती चरण वर्मा आदि

उक्त लेखकों में कौशिक जी का तो बहुत उच्च स्थान है ही; पर साथ ही जैनेन्द्र जी के विषय में एक शब्द कहना होगा। आपकी कुछ कहानियाँ कला की दृष्टि से बहुत ऊँचे दर्जे की बन पड़ी हैं। वर्तमान लेखकों के संबंध में तुलनात्मक रीति से कुछ कहना बुरा काम है। इसीलिये श्रेष्ठ उपाय इतिहास लेखक के लिये वर्तमान लेखकों के संबंध में मौनावलंबन ही होता है; पर तो भी तो काम नहीं चलता। अब कोई भी इतिहास प्रेमचन्द्रजी के उल्लेख बिना अपूर्ण ही समझा जायगा। अब जब उनका उल्लेख किया गया तब सभी का करना पड़ता है और लेखक को एक तरह से तलवार की धार पर चलना पड़ता है। इसीलिये नामोल्लेख से अधिक हमसे और कुछ कहते नहीं बनता। कौन कैसा है या किसका 'स्थान' क्या है इसके लिये मासिक पत्रों के कालम अधिक उपयुक्त हैं।

ऊपर की तालिका में आये हुए तीन अंतिम नाम अत्याधुनिक लेखकों के है। आप लोगों ने अभी बहुत हाल में कहानी लिखना प्रारंभ किया है और हिंदी संसार को यह विश्वास हो रहा है आप ऐसे लेखकों के श्रम के फल स्वरूप हिंदी कहानी के इतिहास में एक नया पृष्ठ खुलेगा।

निबंध

हिंदी में उच्च श्रेणी के मौलिक तथा साहित्यिक निबंध लिखने वालों की अभी बहुत कमी है। जैसे कहानी के विषय

में हम तीन-चार प्रथम श्रेणी के कहानी लेखकों का नाम गिना गये हैं वैसे ही निबंध के विषय में नहीं कर सकते।

सबसे पहले हिंदी में साहित्यिक लेख लिखने की प्रथा चलाने वाले--

पं० प्रताप नारायण जी मिश्र हुये। इनके सबसे अच्छे लेख ये हैं :--

समझदार की मौत है।

बात।

वृद्ध।

भौं।

घूरे के लत्ता बिनैं कनातन का डौल बाँधैं।

मनोयोग।

मिश्र जी के बाद पं० बाल कृष्ण भट्ट उच्चकोटि के पांडित्य-पूर्ण गंभीर साहित्यिक लेख लिखने वाले हुये। इनके लेख बड़े विचारात्मक (Reflective) तथा साहित्यिक दृष्टि से बड़े उच्च-कोटि के हुये। उनके प्रसिद्ध लेख ये हैं--

१--आँसू।

२--बात-चीत।

३--दिल और दिमाग़।

४--चन्द्रोदय।

५--कल्पना।

६--आत्म-निर्भरता। इत्यादि

'साहित्य सुमन' नामक पुस्तक में इनके प्रायः कुछ सर्वोत्तम लेखों का संग्रह है। इस संग्रह में दिये हुये लेखों के साहित्यिक मूल्य का पता इसी से लग सकता है कि इसे प्रयाग विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा की पाठ्य पुस्तकों में स्थान मिला है।

पं० बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन' भी अपनी पत्रिका 'आनंद कादंबिनी' में प्रायः साहित्यिक लेख लिखते थे; पर इनका ध्यान जितना शैली और भाषा तथा वाक्यों की सुघड़ता की ओर रहता था उतना वस्तु की ओर नहीं। विचार या भाव की मात्रा इनके लेखों में बहुत कम होती थी अवश्य पर पढ़ते समय एक बार तबियत फड़क जरूर उठती है। इनके लेख विशेषतः वर्णनात्मक होते थे और मुख्यतः इनके 'वर्षा', 'बसंत' आदि सुहावने ऋतुओं पर लिखे हुये लेख बड़े हृदयग्राही हुये हैं।

भारतेंदु काल में उनसे संपर्क रखने वालों में एक उच्चकोटि के निबंध लेखक ठाकुर जगमोहन सिंह हो गये हैं। ये ही महाशय आजकल की 'प्रलाप' शैली के आविष्कारक हैं। इस शैली में शब्द-विधान गौण रखा जाता है और कल्पना-द्वारा उद्वेलित भाव प्रवाह को मुख्य स्थान दिया जाता है। ये ठाकुर साहब पहले लेखक थे जिन्होंने प्रकृति को सजीव समझा और मनुष्य-हृदय की भाँति नदी, पहाड़, झरने, बन, उपवन आदि प्रकृति के अंगों को भी हर्ष, विषाद, क्रोध आदि का विषय समझा। इनका 'श्यामास्वप्न' नामक लेख इस ढङ्ग का पहला लेख है।

हिन्दी के दुर्भाग्य से ये अधिक दिन साहित्य-सेवा न कर पाये और असमय में ही कालकवलित हुये। इनके उपरांत हिंदी के उत्कृष्ट निबंध लेखकों में पं० रुद्रदत्त शर्मा और ठाकुर गदाधरसिंह के नाम आते हैं। इन लोगों ने जो कुछ लिखा वह अच्छा लिखा; पर खेद है कि इनके लेख बहुत अल्प ही मिलते हैं।

हरिश्चन्द्र के समय के लेखक-मंडल के उपरांत मासिक पत्रों में समय समय पर उच्चकोटि के लेख निकलने लगे; पर अभी तक ऐसा लेखक शायद एक भी नहीं हुआ, जिसने केवल निबंध में ही प्रवीण (Specialist) बनने की वास्तविक चेष्टा की हो। लोग कविता, उपन्यास, नाटक आदि विभिन्न साहित्य-क्षेत्रों में काम करते हुये कभी-कभी एकाध निबंध भी 'लिख मारते' हैं। पाश्चात्य देशों में नाटक उपंयास आदि से ऊँचा स्थान साहित्यिक निबंधों को दिया जाता है और अपने विषय के सिद्धहस्त विद्वान् लेखक ही निबंध में हाथ डालते हैं। प्रेस में भेजना आरंभ करने के पहले बहुत सा समय अभ्यास और शिक्षा में बिताते हैं। निबंध में थोड़े ही स्थान में गठी हुई भाषा में बहुत से भावों तथा विचारों को सुनिश्चित क्रम से सजाकर रखना होता है। हमारे विचार से निबन्ध लेखन कला में उपंयास नाटक इत्यादि लिखने से भी अधिक कौशल की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि साहित्यिक निबंध जिसे कहना चाहिये उसका इस समय हिंदी में नितांत अभाव है।

आधुनिक काल में 'सरस्वती' के भूत पूर्व संपादक पं० महाबीर प्रसाद द्विवेदी, पं० पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, पं० रामचंद्र

शुक्ल, स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा तथा बाबू श्याम सुन्दर दास जी आदि कुछ इने-गिने लोग ही ऐसे हैं, जो समय समय पर उच्च-कोटि के विद्वत्ता पूर्ण साहित्यिक लेख लिखते रहे हैं। द्विवेदी जी के उत्तमोत्तम साहित्यिक तथा समालोचनात्मक लेखों के संग्रह पुस्तकाकार छप गये हैं और उनके नाम "साहित्यसंदर्भ" तथा "आलोचनांजलि" हैं। बख़्शी जी के भी बहुत से उच्चकोटि के लेख अभी हाल में "पंच-पात्र" नाम की पुस्तक में संगृहीत हुये हैं। पंडित पद्मसिंह शर्मा के लेखों का संग्रह भी अभी "पद्म-पराग" नाम से निकला है। हिन्दी के अग्रगण्य समा-लोचकों में भी हम इन्हीं पाँचों विद्वानों के नाम सबसे पहले लेंगे।

समालोचना

हिन्दी समालोचना का संक्षिप्त इतिहास

समालोचना का जो ढंग आजकल हम हिन्दी में देख रहे हैं वह पाश्चात्य समालोचना का ही अनुकरण कहा जा सकता है। इसका मुख्य कारण यह है कि हिन्दी के आधुनिक गद्य साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ चुका है और पड़ रहा है। परन्तु इसका अर्थ यह न लगाना चाहिये कि इस विदेशी प्रभाव के पहिले भारतीय साहित्य में समालोचना प्रणाली थी ही नहीं। संस्कृत साहित्य में टोका, भाष्य, तथा मंत्र-स्तुति आदि के रूप में साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग पड़ा हुआ है वह समालोचना नहीं तो और क्या है? संस्कृतसाहित्य में समालोचना पहले गुणदोष-निरूपण के रूप में ही परिमित थी। टीकाकार लोग मूल ग्रन्थकार के आशय को व्यक्त करते समय कभी कभी उल्लेखनीय गुणों तथा दोषों का भी उल्लेख कर देते थे। यह अवस्था महाकाव्यों की रचना के पहले अर्थात् दूसरी शताब्दी तक रही। इसके बाद जब बड़े बड़े काव्यग्रन्थ, महाकाव्य नाटक तथा आख्यायिका आदि लिखी जाने लगीं तब से संस्कृत कवियों की दो विभिन्न शाखायें हो गईं। कुछ लोग केवल काव्यग्रन्थ लिखते थे और कुछ केवल अलङ्कार ग्रन्थ।

अलङ्कारी कवि, रसों, भावों, तथा अलङ्कारों के गुणों तथा दोषों को परिभाषा लिखते समय काव्य ग्रन्थ लिखने वाले कवियों के श्लोको को क्रम से गुणों और दोषों के उदाहरण के रूप में उद्धृत करते थे। परन्तु अब भी संस्कृत में समालोचना नाम का कोई स्वतन्त्र विषय नहीं माना जाता था और न स्वतन्त्र ग्रन्थ ही इस विषय पर लिखे जाते थे। इसका मुख्य कारण यह है कि संस्कृत साहित्य वस्तुतः पद्य में ही है, गद्य लिखने की परिपाटी बहुत विलंब से प्रचलित हुई और संस्कृत में गद्य लिखने वाले दो ही तीन कवियों का पता लगता है, और समालोचना एक ऐसी वस्तु है जिसका निरूपण पद्य में करना एक प्रकार से असम्भव है। पद्य में सब प्रकार के खण्डन मण्डन, विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन इत्यादि करना, बड़ा कठिन है। संस्कृत में पद्य में ही कहीं कहीं किसो किसी कवि की विशेषताओं का वर्णन कर दिया जाता था जैसे :—

"उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थ गौरवम्
नैषधे पद लालित्यं, माघे सन्ति त्रयो गुणाः।"

साहित्यिक मीमांसा के रूप में संस्कृत में कुछ ऐसे ग्रंथ भी हैं जिन्हें हम एक प्रकार से समालोचनात्मक ग्रंथ कह सकते हैं। यथा—आनन्दवर्धन का "ध्वन्यालोक" महिमभट्ट का "व्यक्ति-विवेक" का 'वक्रोक्ति जीवित्' क्षेमेन्द्र का 'औचित्यविचारचर्चा' तथा 'कवीन्द्रकण्ठाभरण'—और राजशेखर की "काव्यमीमांसा" इत्यादि।

इसी समय के आस पास एक बाबा बेनी माधव दास ने साधारण समालोचना के साथ गोस्वामी तुलसी-

बेनीमाधव दास

दास का जीवन चरित लिखा जिसका नाम "गुसांई चरित" है। पर इस ग्रन्थ को आज कल अनेक विद्वान इसकी शैली तथा भाषा आदि के आधार पर अप्रमाणिक सिद्ध कर रहे हैं, अतः इसके ऊपर अभी अधिक विचार नहीं किया जा सकता।

भक्तिकाल के उपरान्त अलङ्कारी कवियों ने संस्कृत के आचार्यों के रीति ग्रन्थों के ही ढंग पर अलङ्कार-

श्रीपति

ग्रन्थ लिखना शुरू किया। संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थ लेखक अथवा साहित्यमीमांसक अपना सिद्धान्त प्रतिपादन करते समय जिन रचनाओं को उत्तम समझते थे उन्हें रस, भाव, तथा अलङ्कार आदि के उदाहरण स्वरूप उद्धृत करते थे, और जिन्हें वे सदोष समझते थे उन्हें दोषों के उदाहरण के रूप में देते थे। इसी परिपाटी का अनुसरण हिन्दी वालों ने भी कुछ दिन किया। इसी प्रथा के अनुसार श्रीपति कवि ने दोषों के उदाहरण में केशव-दास के पद्य रखे हैं। इस अलङ्कृतकाल में जो कुछ समालोचना हुई वह इसी ढंग की थी।

गद्यकाल में हरिश्चन्द्र के समय के पहले तक समालोचना में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। हरिश्चन्द्र

प्रेमघन

के समय में कुछ सच्चे साहित्यसेवी गद्य और नाटक लिखने में अग्रसर हुये। कुछ विद्वान

उच्च कोटि के साहित्यिक पत्र भी निकालने लगे। इस समय प्रेस के प्रचलित हो जाने से साहित्यसेवा में बहुत सी ऐसी सुविधायें होगई जो पहले के लेखकों के लिये दुर्लभ थीं। साहित्य का कलेवर भी अब बढ़ने लगा। काव्यकला, अलङ्कृत-काल के कवियों के समय में ही अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच चुकी थी। बस इसी समय हम हिन्दीसाहित्य में आधुनिक समालोचना का सूत्रपात होते हुये देखते हैं। मासिकपत्रों में लेखों के रूप में प्रस्तुतग्रन्थों की समालोचना का प्रादुर्भाव हुआ। सबसे पहला प्रयत्न इस दिशा में उपाध्याय पं० बदरी-नारायण चौधरी "प्रेमघन का था। उन्होंने अपनी सम्पादित पत्रिका "आनन्द कादम्बिनी" में उन दिनों प्रकाशित होने वाली कुछ पुस्तकों की बड़ी विशद समालोचना करनी शुरू की। इनकी समालोचना में समालोच्य विषय का पूर्ण रीति से प्रतिपादन तथा गुणदोष का विस्तृत निरूपण होता था। हिन्दी साहित्य में इस प्रकार की समालोचना की प्रथा चलाने का श्रेय प्रेमघन जी को ही है। अपने समसामयिक लाला श्री निवास दास के लिखे हुये नाटक "संयोगिता स्वयंवर" तथा बाबू गदाधर सिंह द्वारा अनुवादित उपन्यास "वंग विजेता" की बड़ी विस्तृत समालोचना इन्होंने की थी।

प्रेमघन जी की चलाई हुई इस प्रथा के अनुसार उनके समय के और भी कई लेखकों ने इसी प्रकार की समालोचना की। प्रेम की वृद्धि, पाश्चात्य साहित्य का अधिकाधिक प्रभाव तथा गद्य के प्रचार से समालोचनात्मक साहित्य की उन्नति का

मार्ग परिष्कृत होता जा रहा था। परन्तु अभी तक समालोचना को एक स्वतन्त्र विषय मान कर उस पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की प्रणाली नहीं चली थी। किसी प्रकाशित पुस्तक को लेकर उसके विषय का संक्षिप्त वर्णन कर देना तथा गुण दोष पर एक दृष्टि डाल देना ही बहुत कुछ समझा जाता था।

पं० महाबीर प्रसाद द्विवेदी

"सरस्वती" के भूतपूर्व सम्पादक पं० महाबीर प्रसाद द्विवेदी ने समालोचन कला को वहुत कुछ आगे बढ़ाया। ये हिन्दी लेखकों का ध्यान पहले भाषा की ओर आकृष्ट करने लगे। जो लोग असावधानी से लिखते थे, अथवा जो लोग व्याकरण, स्पेलिंग, विराम चिन्हों, आदि की शुद्धता का तनिक भी ध्यान नहीं रखते थे उनकी ये अपने पत्र में अच्छी खबर लेते थे।

दीर्घकाल तक "सरस्वती" का सम्पादन करते करते द्विवेदी जी ने समालोचन कला का अच्छा परिचय प्राप्त किया और सबसे पहले इन्होंने ही इस विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। इस ढंग की पहली पुस्तक इनकी "हिन्दी कालिदास की आलोचना" है। इस ग्रन्थ में इन्होंने लाला सीताराम के कालिदास के संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों की बड़ी कड़ी समालोचना की है। चूँकि यह समालोचना अनुवाद ग्रन्थों की है इसलिये द्विवेदी जी ने भाषा, छन्द आदि विषयों को ही ध्यान में रख कर जो कुछ कहना था कहा है तथा मूल ग्रन्थकार के आशय को यथार्थ रूप से व्यक्त करने में अनुवादक कहाँ तक समर्थ हुआ है इस पर भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है,

पर द्विवेदी जी ने इस ग्रन्थ में भरसक दोषों ही के ढूँढ़ने में सारी शक्ति लगाई है, गुणों की ओर शायद उनका ध्यान ही नहीं गया।

इसके अतिरिक्त उन्होंने दो समालोचनात्मक पुस्तकें और लिखीं—(१) विक्रमाङ्क देव चर्चा (२) नैषधीय चरित चर्चा। इन दोनों पुस्तकों में इन्होंने केवल मूल ग्रन्थकार की प्रशंसा का पुल बाँधा है, उनकी विशेषताओं का अच्छा निरीक्षण किया है और यहाँ तक कि इसको समालोचना ग्रन्थ न कह कर स्तुति ग्रन्थ कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। मूल ग्रन्थ के विषय में अन्य विद्वानों की सम्मतियों का भी संग्रह इन पुस्तकों में देखने को मिलता है। आधुनिक समालोचन कला में स्वतन्त्र विचार को बड़ा महत्त्व दिया जा रहा है और सच्ची समालोचना के लिये यह एक प्रकार से अनिवार्य भी है पर द्विवेदी जी ने ऐसा करना शायद उचित नहीं समझा। पर इन ग्रन्थों से इतना अवश्य हुआ कि केवल हिन्दी जानने वालों के लिये संस्कृत के कुछ कवियों की विशेषताओं से अभिज्ञ होने की सुविधा हुई। खेद है कि द्विवेदी जी ने हिन्दी के प्राचीन कवियों पर लेखनी उठाई ही नहीं। हाँ "सरस्वती" के सम्पादक की हैसियत से ये समय समय पर नई प्रकाशित पुस्तकों पर अपनी समालोचना तथा सम्मति देते रहे हैं।

सन् १९०० ईसवी के बाद हिन्दी में निकलने वाली पत्र पत्रिकाओं की संख्या तीव्र गति से बढ़ने लगी और साथ ही साथ समालोचना का शौक भी बहुत से लेखकों और सम्पादकों

को हुआ। परन्तु हिन्दी साहित्य के दुर्भाग्य से समालोचक संसार में दलबन्दी रूपी विषवृक्ष का बीजारोपण भी इसी समय होगया। भिन्न भिन्न पत्र पत्रिकायें एक दूसरे के साथ प्रतिद्वन्दिताक्षेत्र में अवतीर्ण हुईं और यही प्रतिद्वन्दिता क्रमशः द्वेष का रूप धारण करने लगी। विशुद्ध साहित्यक प्रतियोगिता कोई बुरी वस्तु नहीं है, बल्कि इससे साहित्य की उन्नति में बड़ी सहायता मिलती है, पर समालोचना के नाम पर अन्य लेखकों को धूर्तता और पाखण्ड द्वारा पबलिक की दृष्टि में हेय सिद्ध करने की चेष्टा करना बड़ी बुरी बात है। समालोचना करने का शौक़ तो बहुतों को पैदा हुआ, पर दलबन्दी, स्वार्थसिद्धि, ईर्ष्या, द्वेष आदि से प्रेरित हो कुछ लोग यथार्थ समालोचना के आदर्श से बहुत दूर हट गये यहाँ तक कि अन्य लेखकों का मज़ाक उड़ाना, चलते हुये व्यङ्ग पूर्ण शब्दों से उन्हें बेवकूफ़ बनाना, पुराने लेखकों पर अपना रंग जमाने की कुचेष्टा करना, तथा नये लेखकों को सदा के लिये कुचल देने का ही नाम समालोचना रह गया। यह अन्धेर अभी कुछ ही वर्षों से हिन्दी साहित्य में होने लगा है और सुधार न होकर यह अंधेर दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। यद्यपि समालोचना ऐसा विषय नहीं कि इसके लिये कुछ सुनिश्चित और सर्वमान्य नियम बना डाले जायँ, बल्कि हम तो यों कहना उचित समझेंगे कि समालोचना के सम्बन्ध में कोई नियम का न होना ही सबसे अच्छा नियम है, तथापि समालोचना का एक नैतिक उत्तरदायित्व होता है जिसे सदा ध्यान में रखना प्रत्येक समालोचक का कर्त्तव्य होना चाहिये।

जिस समय से समालोचनात्मक साहित्य हिन्दी में दृष्टि-गोचर होने लगा है उस समय को देखते हुए यह हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि समालोचनात्मक साहित्य की सृष्टि हिन्दी में विलम्ब से नहीं हुई। पाश्चात्य साहित्य में भी समालोचनकला के प्रादुर्भाव हुए अभी अधिक दिन नहीं बीते, पर वहाँ इस कला में उन्नति बहुत शीघ्र गति से हो रही है। इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिये कि पाश्चात्य समालोचना उच्चतम शिखर पर पहुँच गई है अथवा हिंदी में उच्चकोटि की समालोचना है ही नहीं।

मिश्र-बन्धु

पुराने हिन्दी कवियों के विषय में सबसे पहला समालोचनात्मक ग्रन्थ मिश्र बन्धुओं का "हिंदी नवरत्न" निकला। यह अपने ढंग का पहला ग्रन्थ था। इसमें चन्द से लेकर हरिश्चन्द्र तक हिन्दी के नौ महाकवियों का संक्षिप्त जीवन चरित, उनकी रचना, भाषा, शैली, विशेष गुण-दोष तथा मानव समाज पर उनकी रचनाओं का प्रभाव आदि पर गम्भीर विचार करने का प्रथम प्रयत्न किया गया। इस ग्रन्थ का हिंदी संसार में बड़ा आदर हुआ। अभी थोड़े दिन हुए इसका एक नया और परिवर्द्धित संस्करण हमारे देखने में आया है जो कि आकार में पहले से प्रायः दूना है और महाकवि कबीर जो पहले छोड़ दिये गये थे, इसमें उचित स्थान पा गये हैं। केवल समालोचना की दृष्टि से यह ग्रन्थ चाहे बहुत उत्तम न हुआ हो पर इससे इन्होंने हिन्दी लेखकों को पुराने कवियों पर विस्तृत तथा तुलनात्मक समालोचना लिखने के

लिये अह्वान किया और इसके फल स्वरूप हम पं० पद्मसिंह शर्मा को बिहारी की सतसई को लेकर एक विद्वतापूर्ण तुलनात्मक समालोचना ग्रन्थ साहित्य प्रेमियों के संमुख रखते हुये पाते हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रसङ्ग वश मिश्र बन्धुओं की समालोचना का कई जगह खण्डन किया तथा बिहारी को आपने बहुत ऊँचे दर्जे का कवि माना है।

पं० पद्मसिंह शर्मा

शर्मा जी की समालोचना—जो हिन्दी में पहली तुलनात्मक समालोचना कही जा सकती है अनेक विद्वानों को बड़ी पक्षपात पूर्ण प्रतीत हुई और पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने "देव और बिहारी, नाम का एक तुलनात्मक समालोचनाग्रन्थ लिखा जिसे पद्मसिंह शर्मा जी की समालोचना का जवाब कहा जा सकता है। इसमें इन्होंने शर्मा जी के बहुत से सिद्धान्तों को असंगत और उनके सारे दृष्टिकोण को पक्षपात पूर्ण सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस ग्रन्थ की भूमिका में इन्होंने समालोचना विषय पर एक विचार पूर्ण लेख भी लिखा है, और आधुनिक समय में समालोचकों की प्रवृति कैसी हो रही है इस पर भी काफी प्रकाश डाला है। इन्होंने अभी थोड़े दिन हुये "मतिराम-ग्रन्थावली" का सम्पादन किया है और इसकी भूमिका में मतिराम की रचनाओं पर तुलनात्मक दृष्टि से एक विस्तृत लेख लिखा है। इसमें मतिराम के स्थान को भी बिहारी से ऊँचे उठाने की चेष्टा की गई है।

पं० कृष्ण बिहारी मिश्र

इसके कुछ दिन बाद लाला भगवानदीन "देव और बिहारी"

के उत्तर स्वरूप "विहारी और देव" लेकर उपस्थित हुये और इसमें इन्होंने मिश्र बन्धुओं तथा कृष्ण विहारी मिश्र को विहारी के साथ घोर अन्याय करते हुये बतलाया और विहारी को कला की दृष्टि से सर्वोच्च कवि माना।

लाला भगवान दीन

इस "देव और विहारी" द्वन्द से हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना का प्रचार इतना बढ़ा कि साहित्यिक समालोचना में तुलना का आजकल कुछ अनुचित प्राधान्य सा हो गया है।

वर्तमान समय की समालोचना

ऊपर कहे हुये कुछ विद्वानों की समालोचनाओं से हिन्दी समालोचना बहुत कुछ आगे तो बढ़ी और बहुतों को इसका नशा सवार हुआ पर खेद है कि बहुत से अनधिकारी और असफल लेखक आजकल स्वयं सिद्ध समालोचक बन बैठे हैं। बहुत से पत्र-सम्पादकों की समालोचना में समालोच्य पुस्तक की पृष्ठ संख्या, छपाई, सफ़ाई, ग्रन्थकर्त्ता का नाम और एकाध चलते हुये वाक्य में अपनी 'अमूल्य' सम्मति के सिवा और कुछ नहीं रहता। यदि कोई सम्पादक गुण दोषों की ओर ध्यान देने का कष्ट उठाता भी है तो अपनी दी हुई अनमोल सम्मति के ही आधार पर। इधर बड़े बड़े साहित्याचार्य किसी समालोच्य विषय के विशेषत: जब कि वह पद्यमय हो, अनेकार्थ करण में ही समालोचना और पाण्डित्य प्रदर्शन की पराकाष्ठा समझते हैं। बहुत से विद्वान् समझे जाने वाले समालोचक पुस्तक देखने के पहले ही अपनी एक राय बनाये रहते हैं और उसी राय के अनु-

सार जबरदस्ती समालोच्य विषय में खींच तान कर गुण दोष पैदा करते हैं और विद्वानों की समालोचना पर निर्भर करने वाले पाठक भी आँख मूँद इन्हीं सम्मतियों के अनुसार अपनी सम्मति बना लेते हैं। यह अन्धेर हैं परन्तु इसका कोई उपाय भी नहीं दीख पड़ता। बहुत से विद्वान् समालोचक तो यहाँ तक करते हैं कि नाम मात्र को समालोच्य विषय का उल्लेख कर उसके ऊपर अपनी ओर से इतनी बातें कहते जाते हैं कि अन्त में समालोच्य विषय उनके पाण्डित्य के समुद्र में बिलकुल डूब ही जाता है और फिर साधारण पाठक के सामने मूल विषय का कोई चिन्ह भी नहीं रह जाता जिससे उसे अपनी दृष्टि से भी मूल ग्रन्थकार के विषय में कोई मत स्थिर करने का मौक़ा मिल सके। साथ ही इसके यह भी कोई नहीं कह सकता कि इस प्रकार की समालोचना का न होना ही अच्छा, क्योंकि जिस तेज़ी के साथ आज कल प्रकाशित पुस्तकों की संख्या में वृद्धि हो रही है उसे देखते हुए इस प्रकार की समालोचना का होना कुछ अंशो तक आवश्यक सा है। सभी पुस्तकें ऐसी नहीं होतीं जिनके लिये साधारण पाठक अपना अमूल्य समय नष्ट करे। पर ऐसी अवस्था में योग्य समालोचक की निष्पक्षपात सम्मति ही एक मात्र पाठक के लिये पथप्रदर्शक का काम करती है। यह सम्भव है कि कहीं कहीं योग्य और निष्पक्षपात समालोचक भी असावधानी कर जा सकते हैं, पुस्तक के वास्तविक मूल्य को घटा बढ़ा सकते हैं और बहुत सी उत्तम बातें उनके दृष्टि पथ से बच भी जा सकती हैं जिन्हें साधारण पाठक पहचान सकता है, पर अधिकतर

ऐसा होने की सम्भावना नहीं रहती। सत्समालोचक यदि वह वास्तव में अपने परम उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य के उपयुक्त है और उसका हृदय शुद्ध है तो उसकी दृष्टि अवश्य साधारण पाठक से अधिक पैनी होगी और समालोच्य विषय में यदि यथार्थ में यदि कोई वस्तु जनसाधारण के पढ़ने और ध्यान देने योग्य है तो वह उसकी दृष्टि से बच नहीं सकती और वह अवश्य उस विषय पर यथोचित प्रकाश डालेगा। पर ऐसे समालोचकों की संख्या हिंदी संसार में उंगलियों पर गिनाई जा सकती है।

सबसे शोचनीय बात हिन्दी समालोचकों के सम्बन्ध में यह है कि ये सभी विषयों पर तथा समान रूप से अपना अधिकार दिखलाते हैं। कविता, गद्य, नाटक, इतिहास, विज्ञान, दर्शन ललितकलायें आदि सभी विषयों पर समान रूप से आक्रमण करते हैं, और अपनी सम्मति ऐसे निस्संकोच और असंदिग्ध रूप से देते हैं कि साधारण पाठक को तुरन्त उनकी बहुज्ञता पर विश्वास हो जाता है। नियम यह होता है कि जो जिस विषय का विशेष अध्ययन कर उसमें निपुण (Expert) हो जाता है उसी की उस विषय पर समालोचना होनी चाहिये। रस्किन की राय चित्र कला के विषय में क्यों सर्वमान्य हो गई, इसलिये कि उन्होंने इस कला के विषय में बहुत गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लिया था; मेथ्यू आर्नल्ड काव्यकला के इतने उच्चकोटि के समालोचक इसीलिये स्वीकार किये गये, कि उन्होंने अपना जीवन ही कविता के विशेष अध्ययन में बिताया और स्वयं भी उच्चकोटि की कविता करते रहे। पर इस प्रकार के समालोचक हिन्दी साहित्य में कितने हैं ?

वर्तमान समय में पं० रामचन्द्र शुक्ल की समालोचनाओं का विशेष आदर है, खास कर एम० ए०, बी० ए० आदि कक्षा के विद्यार्थियों में तथा विश्वविद्यालयों में आपके समालोचनात्मक ग्रन्थ पाठ्यपुस्तकों की भाँति पढ़ाये जाते हैं। बाबू श्याम सुन्दर दास के 'साहित्या-लोचन नामक ग्रन्थ भी समालोचना के विद्यार्थियों के लिये बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। इसी प्रकार श्रीपदुमलाल पन्नालाल बख्शी जी की समालोचनायें भी बड़ी संयत, गंभीर और उपयोगी सिद्ध हुई। आपकी 'पञ्चपात्र' नामक पुस्तक का विशेष आदर है। आधुनिक हिन्दी के प्रसिद्ध कवि श्री रामकुमार वर्मा की एक छोटी सी पुस्तक 'साहित्य समालोचना' भी इस विषय का एक उपयोगी ग्रन्थ सिद्ध हुआ। अभी थोड़े दिन हुए वर्मा जी ने 'कबीर का रहस्यवाद, नामक एक विद्वत्तापूर्ण समालोचनात्मक ग्रन्थ लिखा जिसका विद्वानों में विशेष आदर है। पं० रामचन्द्र शुक्ल जी 'रहस्यवाद' नामक एक गवेषणात्मक ग्रन्थ पहले ही लिख चुके हैं पर यह ग्रन्थ जरा अधिक पाण्डित्य पूर्ण होने के कारण साधारण कोटि के शिक्षितवर्ग के लिये अधिक उपादेय न हो सका। परन्तु वर्मा जी के 'कबीर के रहस्यवाद' के बाद से इस प्रकार के समालोचनात्मक ग्रन्थों का लेखन एक प्रकार से बंद सा हो गया है। अब आज कल के पत्रों में एक नई ही ढङ्ग की समालोचना जोर पकड़ रही है जिसे हम लज्जास्पद के अतिरिक्त और कुछ नहीं कह सकते। स्वतंत्र पत्रकारी (Freelance Journalism) और साहित्यिक समा-लोचना में अंतर है और अपना उल्लू सीधा करने के लिये कोई भी क़लम चलाने वाला पत्रकार 'सनसनी दार' या 'बंम के' गोले

बरसाने वाली दायित्वहीन समालोचना किसी के भी सर्वनाश के लिये लिख सकता है, पर साहित्य का इससे कुछ लाभ नहीं होता केवल क्षण मात्र के लिये एक तमाशा भर खड़ा हो जाता है।

इति शुभम्